का अनुमान करना बडा कठिन था। सीताने उस कुसुम काननमे स्वर्गसुख उत्पन्न कर दिया था। सीताकी पचवटी प्रेमका एक राज्य थी। मालूम होता है कि कठिन कष्ट उठाने के लियेही सीताने पहले इतना सुख भोग लिया था।

कविकुलगुरु वाल्मीकिने प्रेमका यह अपूर्व चित्र खींचा है। कालिदासकी कण्वाश्रमवासिनी शकुन्तला इसी सीताकी छाया जान पडती है। मिल्टनके पैरेडाइजके आदम और ईव (हौवा) का प्रेममय चित्र क्या कभी वाल्मीकिके प्रेमचित्रकी तुलना कर सकता है ? आदम और ईव तत्काल उत्पन्न करके पैरेडाइजके सुन्दर वनमें ला रक्खे गये थे। वे ससारके सुख-दु ख, हिंसा-द्वेष आदि कुछ भी नहीं जानते थे। इससे उनका प्रेम प्रेमही नहीं कहा जा सकता, उनका सुख सुखही नही हो सकता। जिनको कुछ ज्ञान नहीं है, उनकी अज्ञानतामें प्रेम रसका उद्बोधही नही हो सकता। इसीसे उनके प्रेम और राम सीताके प्रेममे आकाश पातालका अन्तर है। सीताने दु खमय काननको प्रेममय बनाकर सुखमय कर दिया था, और ईव सुखमय काननके अयोग्य होनेके कारण उससे निकाल दी गई थी। एकने पापमय ससारको पुण्यमय बना दिया था और दूसरेने पुण्यमय ससारमें पापकण्टक बोकर उसे हिंसा-द्वेषसे भर दिया था।

राधिकाका प्रेम

आर्योंके भक्तिशास्त्रमे एक और भी आदर्श प्रेम है। उसमें मनुष्यके चित्रमें सात्विक प्रेम प्रकट किया गया है। राधा

भी भयङ्कर है, क्योंकि इसमें आशा बिलकुल नहीं है। तापस-वनमें सीताके निराश प्रेमका चित्र है। रामने स्वय सीताका त्याग किया था। किन्तु यह त्याग प्रेमत्याग नहीं है। यह प्रजारञ्जन कर्तव्यका बलि कहा जा सकता है। इस विसर्जनसे सीता रामके उद्दीप्त प्रेमका और भी आधार बन गई थी। सीताको उस प्रेमका अभिमान नहीं था तथापि वह रामप्रेमके कारण सभीके लिये आदरणीय हो गई थी। वह रामके प्रेममें ही दिनरात मुख मलीन किये आँसू बहाया करती थी। वह अपनी सन्तानकी ओर देखकर रामके रूपका स्मरण करती थी और उसी रूपकी पूजा करती थीं। सन्तानके ही मुखमें राजीवलोचन रामचन्द्रका मुख देखती थी और झरझर आँसू बहाकर उस निर्जन निवासको डुबाया करती थी। सीता केवल राम प्रेमसे जीवित होकर उस आश्रममें रहती थी। आश्रमवासके समय सीताका प्रेम कितना प्रगाढ हो गया था, यह पाताल प्रवेशके समय स्पष्ट प्रतीत हुआ था। रामके मुखसे फिर भी परीक्षाकी बात सुनकर सीताकी छाती फट गई। पिताके समान वाल्मीकि, अन्यान्य गुरुजन, देवता, पुत्र और सभाके उपस्थित सभ्योंके सामने इस प्रकार मर्माहत होकर वह ठहर न सकी। पृथ्वी फटी और टक लगाकर रामका मुख देखती हुई प्रेम प्रतिमा सती सीता उसी पृथ्वीरूपी माताके अङ्कमें जाकर अदृश्य हो गई। सतीके प्रेमकी पवित्र प्रतिमा विसर्जित हो गई।

सतीत्व गौरव

सतीका पतिप्रेम ... सकता है, यह

सीताके ... । कविकी

विरहमें राधिकाकी तन्मयता परिपूर्ण हुई थी। राधिकाने प्रकट कर दिया था कि कृष्णविरह असम्भव है। राधाकृष्ण सदा ससारमें कदम्बमूलमें विराजित रहेंगे। राधा कभी कृष्णसे अलग होनेवाली नहीं है।

सीताके प्रेमकी ऐकान्तिकता

सीताका विरह दूसरे ढगका है। सीताका विरह सुखके वृन्दावनमें नहीं है। किन्तु उस कारागारमें भी सीताने अशोक वनको राममय कर दिया था। इसीसे सीता उसी राममय स्मरणसे जीवित थी। राक्षस कुलके भयसे सीता और भी एकान्त मनसे रामको स्मरण करती थी। भयने उसकी भक्ति और पतिप्रेमको और भी परिपुष्ट कर दिया था। वह दिनरात रामकी श्याम मूर्तिका ध्यान किया करती थी। सीताकी पतिपरायणता पराकाष्ठाको पहुँच चुकी थी। वह निरन्तर सरमाके साथ मधुर वचनोंसे रामकी बातें किया करती थी। अग्निपरीक्षाके समय उस प्रेमप्रगाढताकी परीक्षा हुई थी। रामके प्रेमाङ्कसे विलग होकर सीता इसी आशासे अशोक वनमें जीवित थी कि रामके पुनर्मिलनसे फिर भी उस प्रेमाङ्कको पाऊँगी। उसके जीनेका कारण यही एक प्रेमाशा थी, किन्तु लक्ष्मणने जब जाकर उसे जगलमें छोड दिया तब उसे कौन आशा थी? इतने पर भी सीता आर्यपुत्र रामचन्द्रकी मङ्गलाकाक्षिणी बनी हुई थी। जैसे कोई लता अपने आश्रय स्थानसे उखाड़कर फेंक दी जाय वैसे ही सीता रामाश्रयसे अलग कर दी गई थी। यद्यपि तापसाश्रम अशोक वनके समान नहीं है तथापि यह उससे

केवल सीता ही क्यों, सभी सतियाँ सीताके ही समान पूजनीया हैं। सती भवानी, पार्वती, सावित्री, अरुन्धती, गान्धारी, दमयन्ती प्रभृति सभी सतियोंने भारतका मुख उज्ज्वल किया है। उनके नाम लेनेसे मनमें पवित्रता उत्पन्न हो आती है। हमने उनमेंसे केवल एकका ही दृष्टान्त दिया है।

जिस सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मका गौरव हमारे पौराणिक काव्यों, नाटकों और उपन्यासोंमें बतलाया गया है, जिस गौरवसे परिपूर्ण होकर भारतीय ललनाएँ धैर्य, क्षमा, अध्यवसाय, कार्यचतुरता, बुद्धिमानी और श्रमसहिष्णुता आदि गुणोंके कारण रमणीरत्न समझी जाती हैं और जिससे वे पवित्र होकर देवियाँ कहलाती हैं उस सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मका गौरव भारतमें अनेक उपायोंसे रक्षित किया जाता है।

(१) कथा और गान। यद्यपि हमारे देशोंमें कथा कहनेकी परिपाटी लोगोंकी अश्रद्धा होनेके कारण उठती जाती है तथापि अब भी कितने ही ऐसे पौराणिक और कथकड हैं जिनके मधुर वचनोंसे निकले हुए सुन्दर दृष्टान्तपूर्ण व्याख्यानों और कथाओंसे अब भी ये दोनों धर्म स्त्रियोंके मनमें प्रवेश कर बद्धमूल हो रहे हैं। रामायण और महाभारतके संगीतसे भी यह कार्य सम्पन्न हो रहा है। इन दोनों महाकाव्यों और पुराणोंसे आज भी पतिभक्तिकी पतितपावनी गङ्गाकी निर्मल धारा बह रही है। गायक और कथकड़ अनेक अलकारोंसे भूषित कर अपनी वाक्चातुरी और बुद्धिमानीसे इन दोनों धर्मोंके गौरव बढ़ा रहे हैं।

अपूर्व सृष्टि है। सीता सतीत्व और पतिपरायणताका चूडान्त निदर्शन है। आर्य साहित्यने इसी सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मके गौरवकी अत्यधिक प्रशसा की है। इसीसे ये दोनों आर्य नारीके प्रधान बल हैं। सतीके नामसे ही शरीर रोमाचित हो जाता है। सती एक मन और एक ध्यानसे केवल अपने पतिको ही जानती है। पतिनिन्दा सुनकर भवानीने शरीरकी आहुति दे दी थी। सतीने पतिका अङ्गस्पर्श किया था, इसीसे यमराजको भी आगे बढनेका साहस नहीं हुआ। सतीने गलित कलेवर पतिको तप्त काञ्चनके समान सुन्दर बना दिया था। सावित्रीने यमलोकसे भी अपने पतिको लौटा लिया था। जब तक आर्य ललनाएँ सतीत्व गौरवसे परिपूर्ण रहेंगी तब तक वे एक महा शक्तिके समान विराजती रहेगी। सती ही यथार्थ पतिव्रता कही जा सकती है। सती स्वय जैसे देवीके समान है वैसे अपने पतिको भी देवतुल्य समझती है। देवतुल्य समझकर ही वह अपने पतिकी सेवा देवताकी भाँति करती है। आर्य शास्त्रने आर्यदेशको सतीत्व गौरवसे पूर्ण कर रक्खा है। सतीके रहनेसे ही आज भी आर्यधाम पवित्र हो रहा है। इसी गौरवसे हमारी सन्तानें बाल्यावस्थासे ही परिपूर्ण होता हैं। इसीसे गान्धारीने जब अपने पतिके अन्धे होनेका समाचार सुना तब अपने नेत्र सदाके लिये कपडेसे ढाँक लिये। साध्वी सावित्रीने विवाह होनेके बाद ही मृत पतिको गोदमें उठा लिया और अन्तमें पुनर्जीवित कराया। आर्यबाला तरुण अवस्थामें भी पति वियोगसे हाहाकार कर उठती हैं। इस गौरवपूर्ण भारतमें सीता सबकी समादरणीय और पूजनीय हो गई है।

प्रकारकी स्त्रीशिक्षा यथार्थ स्त्रीशिक्षा है। इसी शिक्षाके प्रभावसे हमारी आर्य ललनाएँ अनेक गुणोंसे भूपित होती थीं, और जहाँ विलायती शिक्षाकी प्रणाली नहीं प्रचलित हुई है, वहाँ आज भी उक्त शिक्षाकी प्रणालीका फल देख पडता है। यह शिक्षा उस भक्तिपूर्ण पौराणिक साहित्यके पाठसे होती है जिसमें सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मका गौरव उज्ज्वल रूपसे वर्णित किया गया है। यह शिक्षा विलायती रुचिपूर्ण उपन्यासोंके पढनेसे नहीं हो सकती। इस शिक्षामें ग्रन्थका उतना प्रभाव नहीं पड सकता जितना कि कथा-कहानी, आचार, अनुष्ठान और दृष्टान्तका पडता है। इन बातोंसे पातिव्रत्यका संस्कार दृढ रूपसे हमारी तरुण और तरलमति कुलकामिनियोंके हृदयमें बद्धमूल हो जाता है। ये ही कुलाङ्गनाएँ उस गौरवमें पूर्ण होकर अपने आचरण और दृष्टान्तसे इन दोनों धर्मोंको सजीव बनाये हुई हैं।

प्राच्य और पाश्चात्य सती

किन्तु इस प्रकारकी शिक्षा-प्रणालीमें बहुतसे उलट फेर हो गये हैं। ऐसी सुन्दर प्रणालीके बदले अब विलायती शिक्षा-परिपाटी चल पडी है। विलायती साहित्यमें हमारे सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मकी बातें रहना तो अलग रहे, बल्कि उससे उनके विपरीत ही बातें देख पडती हैं। और ऐसा होना ही चाहिए, क्योंकि भारतीय ललनाओंके सतीत्व और पातिव्रत्यके ढंग दूसरे ही हैं। एकमात्र पतिप्रेमसे पूर्ण होकर उसीमें एकनिष्ठ होकर रहना ही भारत-ललनाका सतीत्व है। किन्तु

(२) कथा कहानी । हमारे घरमें वृद्ध स्त्रियाँ और पुरुष रामायण, महाभारत आदिकी कहानियाँ जबानी कह· कर और जो पढना लिखना जानते हैं वे उन्हें सुनाकर घर घर पातिव्रत्य धर्मके गौरवका खूब प्रचार कर रहे हैं।

(३) व्रतानुष्ठान । केवल कहानियाँ सुनाकर ही कन्याओंका मन गौरवपूर्ण नहीं किया जाता था, बल्कि अनुष्ठानमे भी उन्हें दीक्षित करनेके लिये ऋषियोंने अनेक व्रतोंका निर्माण किया। सत्यभामा और सावित्री आदि सतियोंने किस प्रकार व्रतानुष्ठान करके स्वामि पूजाकी प्रतिष्ठा की थी, आज भी उनकी वे कथाएँ बडी बूढी स्त्रियाँ कहा करती हैं। केवल कथा ही तक नहीं कहतीं, उन.व्रतोका स्वय अनुष्ठान करती हैं और बहूबेटियोंको भी उनमें प्रवृत्त करती हैं। प्रत्येक अनुष्ठान, व्रत और पूजाके अन्तमें जो कथाएँ सुनाई जाती हैं उनमें भी इन धर्मोंके गौरवका गान भरा रहता है।

(४) दृष्टान्त । हमारे घरमें बडी बूढी समझदार स्त्रियाँ अपने अपने आचरणसे इन दोनों धर्मोंका यथासाध्य पालन करके कन्याओं और बहुओंको उन धर्मोंका गौरव दिखलाती हैं। हमारी बहू बेटियोंके सामने जो कार्य किये जाते हैं उन्हे देखकर वे सब सीखती हैं और उन धर्मोंकी ओर उनकी आप ही आप प्रवृत्ति हो जाती है। यह शिक्षा किसीको प्रयत्न करनेसे नहीं दी जा सकती, दृष्टान्त ही इसके लिये प्रधान आचार्य है।

इन्हीं उपायोंसे हमारे घरमे स्त्रीशिक्षा होती थी। इस

ना पढ लिखकर स्त्रियाँ पुराण आदि पढने लगती थीं और उसी शिक्षा प्रणालीका गौरव बढाती हुई अपनेको आदर्श बना लेती थीं। पढने लिखनेसे भी कोई हानि नहीं थी, क्योंकि प्रकृत शिक्षाप्रणाली वास्तवमें आचरण, व्यवहार, श्रवण और दृष्टान्त इन्हीं चारों बातों पर अवलम्बित थी। पातिव्रत्यधर्म विशेषत सतीके समस्त आचारों पर ही निर्भर करता है। जिस यूरोपीय समाजमें भारतीय सतीत्वका अभाव है उस स्थानमें भारतीय पातिव्रत्य धर्मका भी अधिकतर अभाव होगा ही। क्योंकि पातिव्रत्य धर्म आर्य सतियोंसे उत्पन्न हुआ है। इस पातिव्रत्य धर्मके कारण जो भारतीय ललनाएँ समस्त गुणोंका आधार बन गई हैं, यूरोपीय ललनाओंमें वे सब गुण बहुत थोडी मात्रामें देखे जाते हैं। इससे यूरोपीय साहित्यमें जिस स्त्रीका चित्र खींचा गया है वह स्त्रीचरित्रका चित्र पातिव्रत्य-का ज्वलन्त दृष्टान्त नहीं हो सकता। इसका फल यह होता है कि उस साहित्यके पढनेसे हमारे पातिव्रत्य धर्मका गौरव कम हो जाता है। उस साहित्यका जितना अनुशीलन किया जायगा उतना ही हिन्दू नारियोंका गुण कम होता जायगा। वस्तुत हम इसका फल प्रत्यक्ष देख भी रहे हैं।

प्राचीन भारतमें स्वेच्छाचारिताका निदर्शन

यूरोपीय समाजमें जैसा सतीत्व प्रचलित है वैसा ही सतीत्व सभ्यताकी आदिम अवस्थामें प्रचलित होना सम्भव है। इस बातका प्रमाण भी पाया जाता है कि प्राचीन भारतमें स्थान स्थानपर वैसाही व्यवहार प्रचलित था। दिग्विजयके

पाश्चात्य समाजमें ऐसा सतीत्व नहीं है। उस समाजके सतीत्व का रंग रूप इस प्रकार है —

(१) उस समाजमें स्त्रियाँ अनेक वार पति बना सकती हैं। एक पतिको छोडकर दूसरा पति बनानेकी रीति होनेके कारण, हिन्दू समाजमें एकनिष्ठताका जैसा गौरव है वैसा पाश्चात्य सतीत्वमें नहीं है।

(२) यूरोपीय समाजमे स्त्रियाँ स्वेच्छानुसार पति चुनती हैं । वे एकको छोडकर दूसरेको भी पति बनाती हैं। इससे यूरोपमें रमणियोंकी इच्छा ही प्रबल है। वे स्वेच्छानुसार कार्य भी करती हैं। उनकी स्वेच्छाचारिता और स्वतन्त्रता अत्यन्त अधिक है। इन दोनोंसे हिन्दू स्त्रियोंके पातिव्रत्य और सतीत्वका कोई साम्य नहीं है। वे दोनों परस्पर विरोधी हैं।

साहित्यमें पातिव्रत्य

भारतीय समाजने मनुष्योचित व्यवहार संस्थापित करके सतीत्वका इससे कुछ भिन्न ही आदर्श दिखलाया है। वँही आदर्शभूत साहित्य-गौरव भारतीय साहित्यमे भरा हुआ है। यूरोपीय समाजका सतीत्व आर्य सतीत्वसे भिन्न है। उसमें कोई ऐसी विशेपता न होनेके कारण उसका वर्णन यूरोपीय साहित्यमे नहीं है। उसमें सामाजिक आचार-व्यवहारका ही वर्णन है। ऐसे ही आचार व्यवहारसे परिपूर्ण होनेके कारण यूरोपीय साहित्य पढ़नेसे जो फल होता है उससे हमारे सतीत्व-का गौरव क्रमश ध्वस होता जा रहा है। हम पहले ही कह आये हैं कि हमारे यहाँकी स्त्रीशिक्षा-प्रणाली भिन्न है। थोड़ी

सा पढ लिखकर स्त्रियाँ पुराण आदि पढने लगतीं थीं और वसी शिक्षा प्रणालीका गौरव बढाती हुई अपनेको आदर्श बना लेतीं थीं। पढने लिखनेसे भी कोई हानि नहीं थी, क्योंकि प्रकृत शिक्षाप्रणाली वास्तवमें आचरण, व्यवहार, श्रवण और दृष्टान्त इन्हीं चारों बातों पर अवलम्बित थी। पातिव्रत्यधर्म विशेषत सतीके समस्त आचारों पर ही निर्भर करता है। जिस यूरोपीय समाजमें भारतीय सतीत्वका अभाव है उस स्थानमें भारतीय पातिव्रत्य धर्मका भी अधिकतर अभाव होगा ही। क्योंकि पातिव्रत्य धर्म आर्य सतियोंसे उत्पन्न हुआ है। इस पातिव्रत्य धर्मके कारण जो भारतीय ललनाएँ समस्त गुणोंका आधार बन गई हैं, यूरोपीय ललनाओंमें वे सब गुण बहुत थोडी मात्रामें देखे जाते हैं। इससे यूरोपीय साहित्यमें जिस स्त्रीका चित्र खींचा गया है वह स्त्रीचरित्रका चित्र पातिव्रत्य-का ज्वलन्त दृष्टान्त नहीं हो सकता। इसका फल यह होता है कि उस साहित्यके पढनेसे हमारे पातिव्रत्य धर्मका गौरव कम हो जाता है। उस साहित्यका जितना अनुशीलन किया जायगा उतना ही हिन्दू नारियोंका गुण कम होता जायगा। वस्तुत हम इसका फल प्रत्यक्ष देख भी रहे हैं।

प्राचीन भारतमें स्वेच्छाचारिताका निदर्शन

यूरोपीय समाजमें जैसा सतीत्व प्रचलित है वैसा ही सतीत्व सभ्यताकी आदिम अवस्थामें प्रचलित होना सम्भव है। इस बातका प्रमाण भी पाया जाता है कि प्राचीन भारतमें स्थान स्थानपर ऐसाही व्यवहार प्रचलित था। दिग्विजयके

समय सहदेव जब प्राचीन माहिष्मती पुरीमें गये थे तब वहाँ की स्त्रियाँ पुश्चली थीं और स्वतन्त्र विहार करती फिरती थीं। पाण्डुराज कुन्तीसे कहते हैं —

"पहले स्त्रियोंमें परदेकी चाल नहीं थी। वे इच्छानुसार घूमती-फिरती और विहार करती थीं। उन्हें किसीकी अधीनतामें कालक्षेप नहीं करना पडता था। काम और द्वेषस हीन तिर्यग् योनिके जीव जिस धर्मके अनुसार कार्य करते हैं, वे भी उसी धर्मके अनुसार चलते थे। उत्तर कुरुमें आज भी यही धर्म प्रचलित है।"

इसके बाद श्वेतकेतुका वृत्तान्त दिया गया है। पाण्डुने भी कहा है कि स्त्रियोंकी स्वतन्त्रा और स्वेच्छाचारिता तिर्यग् योनिके जीवोंकी सी है। इसी व्यवहारको छोड़कर भारतने एक दिन उन्नति की थी और देवत्व प्राप्त किया था। क्या उसी देवत्वको छोडकर हम फिर तिर्यग् योनिके व्यवहारका ही अवलम्बन करेंगे ?

आर्य सतीकी पवित्रता

यूरोपीय साहित्यमें मानव प्रकृतिकी स्वाभाविक स्वेच्छाचारिताकी बडी प्रबलता है। आर्य साहित्यमें प्रेमने मानव प्रकृतिको उच्च बनाकर पवित्र कर दिया है। महाश्वेताका प्रेम पवित्र होकर देवाराधनमें परिणत हो गया है। महाश्वता देवाराधनाकी मूर्ति—प्रेमकी पवित्र प्रतिमा है। अच्छोद सरोवरके तीरपर गहन काननके अन्दर देवमन्दिरमे महाश्वेता देवी है या मानवी ? देवपूजाके छलसे वह एक मन, एक प्राण होकर

किसकी पूजामें लगी हुई है ? पतिप्रेममें या पतिकी आराधनामें ? वाणभट्टकी महाश्वेतामें जैसी पवित्रता है वैसीही पवित्रता कालिदासकी उमाके चरित्रमें भी है। अप्सराके कुलमें शकुन्तला भी वैसीही पवित्र है। उसके पवित्र स्पर्शसे मानव प्रकृति भी पवित्र हो गई है।

आर्य सतीका आत्मोत्सर्ग

सतीमें पतिका अनुराग इतना प्रबल रहता है कि वह उससे पूर्ण होकर अपना अस्तित्व भी भूल जाती है। प्रेममें आत्मविस्मृत होकर सती अपने पतिके साथ सब विषयोंमें लवलीन हो जाती है। पतिकी इच्छामें अपनी इच्छा और पतिके सुखमें अपना सुख समझती हुई सती दाम्पत्य प्रेमकी पराकाष्ठा दिखला देती है। आर्योंके घरमें पतिके साथ पत्नीका स्वार्थ एक, सुख एक और स्वर्ग एक है। यदि इस प्रकार एकता न हो तो दम्पति एक कैसे हो सकेंगे ? यूरोपमें स्वार्थकी विभिन्नता, रुचि विभिन्नता और पारलौकिक इष्ट-साधनकी विभिन्नता होनेके कारण भारतीय दाम्पत्य प्रेममें जैसा आत्मोत्सर्ग, जैसी एकनिष्ठता और जैसी एकामता देखी जाती है, वैसी सब बातें पाश्चात्य दाम्पत्य प्रेममें कहाँ पाई जायँगी ? वहाँ पति पत्नीमें विच्छेद होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है। किन्तु भारतीय ललनाएँ सब प्रकार एकाग्र मनसे पतिकी अनुगामिनी होकर पतिकी सहधर्मिणी होती हैं। सब प्रकारसे पतिकी ऐसी सहधर्मिणी बननेका सौभाग्य यूरोपीय ललनाओंको नहीं है। इष्ट वस्तुकी विभिन्नता उन्हें

अलग कर देती है। इसीसे आर्य सतियोंकी सी प्रेमकी प्रगाढ़ता हम यूरोपीय साहित्यमें नहीं देखते। सहधर्मिणीका देव तुल्य सतीचरित्र केवल आर्य साहित्यमें ही देखा जाता है। उस प्रेमचित्रमें देखा जाता है कि सती केवल इस जीवनमें ही पतिके साथ मिलकर एक होना नहीं चाहती, बल्कि उसकी एकान्त इच्छा ऐसी बनी रहती है कि हम परलोकमें भी एक होकर देवत्व और अमरत्व लाभ करें।

पतिप्रेमसे विश्वपतिका प्रेम

पतिभक्तिमें सती जो आत्मोत्सर्ग करती है वही भगवद् भक्तिका निदान है। जबतक आदमी भगवानमें इस प्रकार लवलीन नहीं होता तबतक भगवद्‌भक्ति-प्रीतिका लाभ होही नहीं सकता। जिस भगवत्प्रेममें भक्त अपनेको भगवानके चरणोंमें विसर्जित कर देता है, उसकी इच्छामें अपनी इच्छा मिला देता है, उसके सुखमें अपना सुख समझता है और उसके कार्यमें अपना जीवन त्याग देता है, उसी भगवत्प्रेमकी छाया सतीकी पतिभक्तिमें देख पड़ती है। इसीसे सती देवीके समान जान पड़ती है। सीता और राधिका दोनों इस द्विविध प्रेमके आदर्श हैं और दोनों ही परस्पर प्रतिबिम्ब हैं। इनमे भेद इतनाही है कि सीताका प्रतिप्रेम अत्यन्त उज्ज्वल है। वह ऐसा उज्ज्वल है कि उसमें देवभक्ति एक दम छिप गई है, और राधिकामें भगवत्प्रेम इतना उज्ज्वल है कि उसमें पार्थिव पतिप्रेम छिप गया है। पतिप्रेम ही भगवत्प्रेममें परिणत हो गया है। इससे राधिकाकी भक्ति प्रेमभक्ति हो गई है।

प्रेमका यही क्रम आर्य साहित्यमें है। साहित्यमें ही नहीं, आर्य समाजमें भी यही क्रम है। आर्य समाजमें जो स्त्री विधवा हुई उसके पति जगत्पति ही हैं। उसका दाम्पत्यप्रेम और पतिभक्ति सहजही भगवद्भक्तिमें परिणत हो जाती है। जिस प्रकार सहजमें यह परिणति हो सके ठीक उसी प्रकार समाजकी रीति-नीतिमें रहकर आर्य नारी पतिभक्तिकी सहायतासे देवभक्तिका अभ्यास करती है। वह स्वामीको प्रणयकी परम वस्तु मानकर उनकी सेवा और पूजा तथा आदर और यत्न करती है। स्वामीकी प्रतिमापूजाके कारण देवप्रतिमाके पूजनमें उसका सहज ही अभ्यास हो जाता है। जो आर्य ललना देवप्रतिमा पूजनमें अत्यन्त अनुरक्त रहती है उस देवभक्ति भरी सतीके लिये स्वामीपूजा अत्यन्त सहज है। इसीसे वह स्वामीकी पूजा करके देवताकी पूजा करती है। आर्य साहित्यमें यदि देखा जाय तो सतीप्रेममें देवत्वका ही सौन्दर्य देख पडेगा।



साहित्यमें प्रेम।

पशुत्व।

सती-प्रेमका लक्षण

आर्य कवियोंने अनेक आदर्शोंकी सृष्टि की है। उनमें आर्य सतियोंके चरित्रमें जिस प्रेमादर्शकी सृष्टि की है उस की समालोचना हम पूर्व प्रस्तावमें कर आये हैं। उसमें कहा गया है कि सतियोंका प्रेम गोपियोंके प्रेमके तुल्य है। उसमें वैसाही निःस्वार्थ भाव है, वैसी ही एकनिष्ठता है और वैसा ही स्वामीका गौरव। इसी भावसे परिपुष्ट होकर वह देवभक्तिमें परिणत हो जाता है। तब वह प्रेम देवभावमें परिणत होकर मनुष्यका देवत्व लाभ करा देता है। इस सती-प्रेमकी आलोचना करनेसे प्रेमतत्वको भली भाँति समझ सकते हैं।

(१) कामानुरागसे प्रेम एकदम भिन्न है। पतिको सुखी बनाकर सती आप सुखी होना चाहती है। वात्सल्य प्रेमका जो उच्च धर्म है वही सती-प्रेमका भी लक्षण है। जिस प्रकार सन्तानको सुखीकर माता पिता सुखी होते हैं उसी प्रकार पतिके सम्बन्धमें भी सतीका अनुराग होता है। इससे प्राकृतिक प्रेम यह नहीं चाहता कि हम स्वयं सुखी हों। वह केवल प्रणयपात्रको ही सुखी करना चाहता है। उसी सुखसे प्रेमकी

परितृप्ति होती है । किन्तु काम इस प्रकार धर्मपूर्ण नहीं है । कामानुराग दूसरेके द्वारा आप सुख सम्भोग करना चाहता है। इन्द्रिय लालसाकी परितृप्ति करके काम चरितार्थ होना चाहता है । प्रेम परार्थपर है और कामानुराग स्वार्थपर ।

(२) प्रेमके परार्थपर होनेके कारण ही सती अपने पतिके गुण दोपमें निरपेक्ष रहती है । गुण देखकर जो प्रेम करेगा वह दोष देखकर घृणा भी करेगा। दोष सभीमें रहता है, इससे रूपज और गुणज अनुराग स्थायी नहीं होता । किन्तु प्रकृत प्रेम गुण दोषका पक्षपाती नहीं होता । मातापिता अपनी सन्तानके दोषगुणसे निरपेक्ष होकर उनका आदर, यत्न और स्नेह करते हैं, उनका प्रेम सन्तानके दोषगुणसे जैसा निरपेक्ष बना रहता है वैसा ही सतीका प्रेम भी दोषगुणसे निरपेक्ष रहा करता है । मातापिताके स्वाभाविक प्रेमका जो यह अपक्षपात है वही सती-प्रेमका आदर्श है । इसीसे मनुने कहा है कि पतिमें भले ही हजारों दोष हों, किन्तु वह सतीके लिये परम पूजनीय है । केवल मनु ही क्यों, महाभारत आदि सभी आर्य ग्रन्थोंमें सर्वत्र यही उपदेश है । प्रेमके इस उच्च शिखरतक कामानुराग कभी नहीं पहुँच सकता । कामानुराग रूप और गुणके वशीभूत रहता है । रूप चिरस्थायी नहीं होता और गुण अत्यन्त दोषविहीन होही नहीं सकता । इससे उसके पात्र अपात्रका सदा परिवर्तन हुआ ही करता है । आज जिसे सुन्दर और गुणी समझ, कामनाने उसे अपनाया, कल एक अन्य व्यक्ति उसकी अपेक्षा भी अधिक गुणवान् और रूपवान् देख पड़ा । ऐसा होते ही कामनाकी

प्रबल प्रवृत्ति उसकी ओर झुक पड़ी । कामना स्थिर नहीं, चञ्चल है । किन्तु प्रेमका धर्म है स्थिरता । प्रेम निश्चल और एकनिष्ठ होता है । क्योंकि वह दोषसे विचलित नहीं होता, गुणका पक्षपाती नहीं बनता । इसी लिये आर्य सतीका प्रेम अत्यन्त अनुरागपूर्ण, स्थिर अचञ्चल और एकनिष्ठ होता है, किन्तु कामान्धोंका अनुराग सर्वदा अस्थिर और विचलित होता रहता है ।

(३) प्रकृतप्रेम निःस्वार्थ और एकनिष्ठ होनेके कारण आकांक्षा रहित रहता है । जो दोषगुणसे निरपेक्ष रहता है, जो दूसरेसे सुखी होना नहीं चाहता, उसकी आकांक्षा ही क्या होगी ? सतीका प्रेम कोई व्यवसाय नहीं है—वह बदला नहीं चाहता । सती यह कभी नहीं कह सकती कि पहले तुम प्रेम करो, फिर मैं भी प्रेम करूँगी। पहले दो तो पीछे ग्रहण करो । प्रकृत प्रेम इस प्रकारका कोई विनिमय व्यापार नहीं है । क्या शकुन्तलाने पेड़ पौधों और पशुपक्षियोंसे प्रेम कर उनसे कुछ बदला चाहा था ? पतिका प्रेम सराहनीय है, पर ऐसा नहीं है कि पतिका प्रेम होनेसेही सती अपने पतिका प्रेम करे । हाँ, यह बात अवश्य है कि सती-प्रेमके साथ पति-प्रेमका संयोग हो जाय तो मणिकाञ्चनका संयोग हो जायगा, किंशुकमें सौरभ भर जायगा, केतकी कण्टकशून्य हो जायगी, चन्दनमें फूल खिल जायँगे और ऊखमें फल लग जायगा । ऐसा न होनेपर भी सती अपने पतिसे प्रेम करती है ।

"प्रेम तुम्हारे करनेहीसे मैं भी कहो, करूँगी प्रेम ?
तुम्हें छोड़कर और न जानूँ यही है मेरा नेम ॥"

वात्सल्य प्रेम जैसा निःस्वार्थ रहता है वैसा ही निःस्वार्थ दाम्पत्य प्रेम भी होना चाहिए। बालबच्चे सयाने होने पर हमारी रक्षा करेंगे, क्या इसी आशासे माता पिता सन्तानसे स्नेह करते हैं? वे अपत्य प्रेमकी प्रतीक्षामें बैठे नहीं रहते। वे कब यह चाहते हैं कि जब हमारे लड़केबाले प्रेम करना सीख लेंगे तभी हम उनसे प्रेम और उनका यत्न करेंगे? नहीं, वे उनके प्रेमकी अपेक्षा न करके अपने अपत्योंको प्राण- की अपेक्षा भी अधिक प्यार करते हैं। आर्य सती भी जब सुयोग्य वरके साथ पिता द्वारा ब्याह दी जाती है तब वह पतिगृहमें आकर पतिप्रेमकी प्रतीक्षा करके बैठी नहीं रहती। उसमें यह भाव नहीं होता कि जब पति मुझसे प्रेम करेंगे तभी मैं भी उनसे प्रेम करूँगी। वह विवाहके बाद ही पतिसेवामें लग जाती है और उसे तन-मन-धन समझकर आदर करती है। वह समझती है कि पति ही मेरा जीवन-सर्वस्व है। पतिका प्रेम भी उससे होता है। पति भी पत्नी प्रेमकी प्रतीक्षामें बैठा नहीं रहता। विवाहके बाद ही पति भी पत्नीको स्नेह- से देखने लगता है। क्योंकि वह अपनी पत्नीको जिस प्रकार सहधर्मिणी कह सकता है उस प्रकार कोई अँग्रेज अपनी पत्नीको "अपनी" नहीं समझ सकता। अँग्रेजोंमें पतिपत्नीका सम्बन्ध चिरकालिक नहीं होता। यदि इस देशमें भी विवाहकी वह प्रथा होती तो ऐसा ही होता। आर्योंका दाम्पत्यप्रेम विनिमयविहीन और प्रेमाकाङ्क्षासे रहित होता है। किन्तु कामानुराग ठीक इसके विपरीत होता है। वह अनुराग पर- मुखापेक्षी होता है। दूसरेका प्रेम न होनेपर कामानुराग सहीस

नहीं होता। वह बदलेका व्यापार है। बिना अदलाबदलीके पशुपक्षियोंमें प्रेम नहीं होता, इसीसे ऐसे प्रेमको पाशव प्रेम कहते हैं। प्रकृत प्रेमके समान कामानुराग निराकाक्ष नहीं है। प्रेम एक और कारणसे फिर भी कामानुरागसे भिन्न हो गया है। सती पतिगौरवसे परिपूर्ण होती है। जैसे व्रजबालाएँ जानती थीं कि श्रीकृष्णके समान महान् और कोई नहीं है, वैसे सतीके लिये भी पतिका गौरव है, बल्कि उससे भी बढ़ा चढ़ा है। माताके लिये सन्तान सबसे प्रिय है और माता भी सन्तानके लिये बड़े गौरवकी चीज है। इससे प्रकृत प्रेम महत्त्व-ज्ञानसे पूर्ण ठहरा। कौन कहता है कि बिना समानताके प्रेम नहीं होता? नौकर मालिकको चाहता है और मालिक नौकरको। गुरु अपने शिष्यसे प्रेम करता है और शिष्य गुरुसे। सम्बन्धमें ऊँच नीच होनेके कारण प्रेममें बाधा नहीं होती। प्रेमपात्र प्रेमीके लिये बड़ी चाहकी चीज है—उसके लिये उसे बड़ा दर्द रहता है। यदि उसे कोई नीचा बनाना चाहता है तो प्रेमीको वह सह्य नहीं होता। वह झल्लाकर कह उठता है कि क्या वे मेरे कोई नहीं हैं? उनकी अपेक्षा बड़ा कौन है? वह अपने प्रेमपात्रको सादर देखता है। वह उसके लिये सोनेका है। पारसमणिके समान, प्रेम जिसको स्पर्श करता है वह भी सोनेका हो जाता है। किन्तु कामानुरागका धर्म स्वतन्त्र है। जहाँ वास्तविक उच्चता और नीचता है, वहाँ कामानुराग अपने विषयको समान कर लेता है और साम्य भावमें लाकर बदला चाहता है। काम उच्चको नीच और नीचको उच्च बना देता है। जब छोटा तो बड़

और बड़ा छोटा हो जाता है तब कामानुराग सञ्चारित होता है ।

प्रकृत प्रेमके साथ कामानुरागकी ऐसीही विभिन्नता है । प्रेम मनुष्यको देवता और कामानुराग मनुष्यको पशु बना देता है । स्वय प्रेममय भगवान मनुष्यमें प्रेम रूपसे देख पड़ते हैं । मनुष्य इस देवांशको जितनाही बढ़ाता है वह प्रेममयके उतनाही निकट होता जाता है—उसके साथ उतना ही सम्मिलित होता जाता है । किन्तु वह जितनाही कामके परतन्त्र होता जाता है उतनाही वह निज प्रकृतिको पशु भावमें परिणत करता जाता है ।

आर्य-साहित्यमें काम

आर्य साहित्यमें सती-प्रेमके धर्मका कैसा चित्र खींचा गया है, इसका कुछ दिग्दर्शन हमने यहाँ कराया है । उस प्रेमके साथ कामानुरागकी विभिन्नता दिखानेका कारण यह है कि आर्य साहित्यमें उक्त दोनो प्रकारके प्रेमके चित्र खींचे गये हैं । हमारे कहनेका आशय यह नहीं है कि आर्य साहित्यकी जड़में इन्द्रिय लालसाका चित्र है ही नहीं । हम यह कहते हैं कि उस चित्रमें जो कलङ्क और जो गारव है वह जैसाका तैसा साहित्यमें चित्रित किया गया है । जो पापचित्र है, जिसमे पशुत्व है वह उसी रूपमें अङ्कित किया गया है । इन्द्रको देवता होनेपर भी शाप मिला था और अहल्याको भी पापका फल भोगना पड़ा था । चन्द्रमा और ताराका प्रणय भी वैसा ही घृणित है । वे भी पापसे कलङ्कित हैं । देवतामें

भी भेद नहीं किया गया है। देवता भी कभी कभी पापसे कलङ्कित हुए हैं। जहाँ कोई महान कार्य साधनेकी आवश्यकता हुई है, आर्य साहित्यमें केवल वहीं कामानुरागका चित्र खींचा गया है। यह काम कहीं बुरे भावसे नहीं किया है। किसी महात्माकी उत्पत्तिकी आवश्यकता होनेपर कामका उद्भाव हुआ है। जब तक उद्देश्य सिद्ध नहीं होता तभी तक उसकी स्थिति बनी रहती है। उसके बाद ही उसका अन्तर्द्धान हो जाता है। जहाँ आसक्ति और लालसा है वहीं पाप है। आसक्ति-हीन काम पापसे कलङ्कित नहीं होता।

गीतामें लिखा हुआ है कि आसक्ति हीन कार्यका कोई कर्मफल नहीं होता—न पाप होता है और न पुण्य। क्योंकि प्रत्येक स्वाभाविक कार्य स्वत. दैहिक कार्य मात्र है। जब वह कार्य आसक्ति और अनुरागसे युक्त होता है तब वह पाप-पुण्यका फल दाता होता है। पाप-पुण्यकी यह सूक्ष्मता हमारे शास्त्रोंमें सर्वत्र दिखलाई गई है। इसी सूक्ष्मताको दिखानेके लिये हमारे आर्य कवियोंने देवता और मनुष्यके दृष्टान्तमें कामकी अवतारणा की है। समूचा महाभारत गीताके सूक्ष्म तत्त्वोंका स्थूल दृष्टान्त है। स्वभाव-जनित, आसक्ति-रहित और पाप-पुण्य हीन दैहिक कार्यके कारण ही व्यासका जन्म हुआ है। व्यास ऐसे महात्माकी उत्पत्तिके लिये ही मत्स्य-गन्धाके साथ पराशरका क्षणिक मिलन हुआ था। इसी प्रकार भरत, शकुन्तला और कार्तिकेयके जन्मके लिये दुष्यन्त, विश्वामित्र और शङ्करके शरीरमें कामका क्षणिक आविर्भाव हुआ था। पाण्डुराजने पाप पुण्यके ये सूक्ष्म तत्व कुन्तीको

समझाकर देवताओंके सत्वसे पाँचों पाण्डवोंका आविर्भाव करा लिया था। बलिराजने अन्ध मुनिसे अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग प्रभृति पाँच पुत्रोंको जन्म दिलवाया था। जो अन्ध मुनि कुछ भी नहीं देख सकते थे उनकी रूपके प्रति आसक्ति होना कभी सम्भव नहीं है। ये स . दृष्टान्त पापपूर्ण कामके दृष्टान्त नहीं हैं।

यदि यह कहो कि क्या आर्य साहित्यमे गान्धर्व विवाह का चित्र नहीं है ? क्या पहले आर्य ललनाएँ स्वयम्वरा होकर अपने अभिलषित पात्रको जयमाल नहीं पहनाती थीं ? क्या यह स्वयम्वर चित्र आर्य साहित्यमें नहीं है ? है, अवश्य है। किन्तु स्वयम्वरकी प्रथा केवल राजकुलमें ही थी। साधारण जन-समाजमें यह प्रथा थी कि नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। जो चित्र हमारे साहित्यमें चित्रित किये गये हैं उन्हीं-की बात यहाँ की जाती है। उन चित्रोंमे देखा जाता है कि राज-कन्याएँ ही स्वयम्वरा होती थीं, पर सब ऐसी नहीं थीं। राजकुलमे इस प्रथाके प्रचलित होनेसे प्राचीन वीर समाजमें एक महान् सामाजिक उद्देश्य सिद्ध होता था। वह एक प्रकारकी राजनीति थी —वही राजनीति जिसके प्रभावसे राजाओंमें ड्राइडेन (Dryden) का यह गीत सर्वदा उच्च स्वरसे गाया जाता था। गीत यह है—

"None but the brave deserve the fair"

"सुन्दरियाँ वीरोंके ही लिये हैं।"

स्वयम्वर-सभामे जब राजा लोग किसी सुन्दरीको प्राप्त करनेके लिये एकत्र होते थे तब उनके केवल गुणोंका ही परिचय कराया जाता था। सुनन्दाने एकत्र राज-समाजका

गुण वर्णन करके ही इन्दुमतीको रघुवंशी अजके गलेमें जय माल देनेको उत्सुक किया था। शिवधनुर्भङ्ग और लक्ष्यभेद न करके अथवा ऐसे ही अन्य प्रकारकी महावीरताका परिचय दिये बिना,कोई सीता और द्रौपदीका पाणिग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हुआ था। केवल स्वयम्बर-सभामे ही रूप, गुण और वीरताका परिचय देनेसे काम नहीं हो जाता था। जो सुन्दरी रत्नको प्राप्त करते थे उन्हे उस सुन्दरीको लेकर घर चले जाना बड़ा दु सा᠁ध्य हो जाता था। सुन्दरी जिन राजाओंका स्वयम्बरमें तिरस्कार कर देती थी वे राजा उस जयमालधारी भाग्यवान् भूपतिपर आक्रमण करते थे। जब सब राजा युद्धमें हार जाते थे तभी उस सुन्दरीको घर ले जाना सम्भव होता था। यह साधारण बात नहीं है। विवाहके इस प्रकारके घोर महाव्यापारके भीतर सुन्दरी अपना पात्र ठीक करती है। स्वयम्बर सभामे जो राजा इकट्ठे होते थे उनके गुणावगुणका परिचय होनेसे, कौन सबसे बड़ा चढा गुणवान् है, केवल इसीका पता नहीं लगता था, बल्कि जो न्यून गुणके कारण हीन हो जाते थे उनका मुख सभामें कैसा म्लान हो जाता था, वे कैसे लज्जित होते थे, इसका चित्र भी आर्य साहित्यमें खींचा गया है। क्या यह विवाह है? यह तो राजाओंकी परीक्षाकी एक रीति है। वीर समाजमें यह वीरजनोचित रीति पहले प्रचलित थी। आर्य साहित्यमे जहाँ जहाँ विवाहका इस प्रकारका वर्णन है वहाँ वहाँ वीर प्रभृति उग्र रसोंका इतना सचार होता है कि मन उसकी ओर एकदम आकृष्ट हो जाता है। इन्द्रिय-लालसा या कामानुराग वहाँ कहीं अनुभूत नहीं होता।

आर्यगण कामको प्रकृत प्रेमसे यथेष्ट विभिन्न समझते थे। इसीसे काम और प्रेमका जो धर्मनैतिक कलङ्क और गौरव है उसका उन्होंने साहित्यमें अच्छी तरह दिग्दर्शन करा दिया है। काम किस प्रकार पापस्पृष्ट होता है और किस प्रकार नहीं, इस बातको वे अच्छी तरह समझते थे। इसीसे उन्होंने अनुरागकी वह मूर्ति स्पष्ट करके दिखा दी है। सूक्ष्मदर्शी आर्य कवि धर्मके सूक्ष्म तत्वको समझते थे। इसीसे उन्होंने ऐसी सूक्ष्मता दिखाई है और इसके लिये कामकी विभिन्न मूर्तियोंकी अवतारणा की है। जहाँ जैसा चित्र खींचा है वहाँ यदि काम वस्तुत पापपूर्ण है तो उसे वैसा ही कलङ्कित रूप दिया है। जहाँ पापचित्रके साधारण स्पर्शसे साहित्यके गौरव-की हानि हुई है वहाँ किसी अन्य रसके संचारसे उस गौरव को दुगुना बढ़ा दिया है।

सतीका सख्य-प्रेम

पाश्चात्य साहित्यमें एक दूसरा ही चित्र है। उस साहि-त्यमें प्रेमका चित्र है ही नहीं, यह हम नहीं कहते। पर उस चित्रकी मूर्ति और ही है। हमने आर्य साहित्यमें वर्णित सती-प्रेमको धार्मिक दृष्टिसे जैसा विचारकर दिखलाया है वैसा धर्मभावपूर्ण दाम्पत्य प्रेम पाश्चात्य साहित्यमें अत्यन्त दुर्लभ है। उस साहित्यमें जो प्रेम है वह सख्य प्रेम है। सखाके साथ सखाका, समानके साथ समानका जो प्रेम होता है उसी प्रेम का चित्र उसमें है। यह सख्यप्रेम बड़ाही सुन्दर है। यह मधुर सख्यभाव आर्य सतियोंमें भी है। किन्तु वह

गुण वर्णन करके ही इन्दुमतीको रघुवंशी अजके गलेमें जय माल देनेको उत्सुक किया था। शिवधनुर्भङ्ग और लक्ष्यभेद न करके अथवा ऐसे ही अन्य प्रकारकी महावीरताका परिचय दिये बिना, कोई सीता और द्रौपदीका पाणिग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हुआ था। केवल स्वयम्वर-सभामें ही रूप, गुण और वीरताका परिचय देनेसे काम नहीं हो जाता था। जो सुन्दरी रत्नको प्राप्त करते थे उन्हें उस सुन्दरीको लेकर घर चले जाना बड़ा दुःसाध्य हो जाता था। सुन्दरी जिन राजाओंका स्वयम्वरमें तिरस्कार कर देती थी वे राजा उस जयमालधारी भाग्यवान् भूपतिपर आक्रमण करते थे। जब सब राजा युद्धमें हार जाते थे तभी उस सुन्दरीको घर ले जाना सम्भव होता था। यह साधारण बात नहीं है। विवाहके इस प्रकारके घोर महाव्यापारके भीतर सुन्दरी अपना पात्र ठीक करती है। स्वयम्वर सभामें जो राजा इकट्ठे होते थे उनके गुणावगुणका परिचय होनेसे, कौन सबसे बड़ा चढ़ा गुणवान् है, केवल इसीका पता नहीं लगता था, बल्कि जो न्यून गुणके कारण हीन हो जाते थे उनका मुख सभामें कैसा म्लान हो जाता था, वे कैसे लज्जित होते थे, इसका चित्र भी आर्य साहित्यमें खींचा गया है। क्या यह विवाह है? यह तो राजाओंकी परीक्षाकी एक रीति है। वीर समाजमें यह वीरजनोचित रीति पहले प्रचलित थी। आर्य साहित्यमें जहाँ जहाँ विवाहका इस प्रकारका वर्णन है वहाँ वहाँ वीर प्रभृति उच्च रसोंका इतना सचार होता है कि मन उसकी ओर एकदम आकृष्ट हो जाता है। इन्द्रिय-लालसा या कामानुराग वहाँ कहीं अनुभूत नहीं होता।

आर्यगण कामको प्रकृत प्रेमसे यथेष्ट विभिन्न समझते थे। इसीसे काम और प्रेमका जो धर्मनैतिक कलङ्क और गौरव है उसका उन्होंने साहित्यमें अच्छी तरह दिग्दर्शन करा दिया है। काम किस प्रकार पापस्पृष्ट होता है और किस प्रकार नहीं, इस बातको वे अच्छी तरह समझते थे। इसीसे उन्होंने अनुरागकी वह मूर्ति स्पष्ट करके दिखा दी है। सूक्ष्मदर्शी आर्य कवि धर्मके सूक्ष्म तत्वको समझते थे। इसीसे उन्होंने ऐसी सूक्ष्मता दिखाई है और इसके लिये कामकी विभिन्न मूर्तियोंकी अवतारणा की है। जहाँ जैसा चित्र खींचा है वहाँ यदि काम वस्तुत पापपूर्ण है तो उसे वैसा ही कलङ्कित रूप दिया है। जहाँ पापचित्रके साधारण स्पर्शसे साहित्यके गौरव-की हानि हुई है वहाँ किसी अन्य रसके सचारसे उस गौरव-को दुगुना बढ़ा दिया है।

सतीका सख्य-प्रेम

पाश्चात्य साहित्यमें एक दूसरा ही चित्र है। उस साहित्यमें प्रेमका चित्र है ही नहीं, यह हम नहीं कहते। पर उस चित्रकी मूर्ति और ही है। हमने आर्य साहित्यमें वर्णित सती-प्रेमको धार्मिक दृष्टिसे जैसा विचारकर दिखलाया है वैसा धर्मभावपूर्ण दाम्पत्य प्रेम पाश्चात्य साहित्यमें अत्यन्त दुर्लभ है। उस साहित्यमें जो प्रेम है वह सख्य प्रेम है। सखाके साथ सखाका, समानके साथ समानका जो प्रेम होता है उसी प्रेम का चित्र उसमें है। यह सख्यप्रेम बड़ाही सुन्दर है। यह मधुर सख्यभाव आर्य सतियोंमें भी है। किन्तु वह

ओर मन आकृष्ट होता है। उसकी महत्ता आँखोंके सामने झलक जाती है। क्लियोपेट्राके रूप और सौन्दर्य पर मन मोहित हो जाता है। लेडी मैकवेथको देखकर मनमें प्रबल लोभ जाग उठता है। यागोकी चातुरीसे मन चमत्कृत हो जाता है। जब इस प्रकारके चित्र मनमें पैठ जाते हैं तब उनके इन चित्रोंके प्रतिविम्ब मात्र चित्रित किये गये संयोगान्त नाटकोंके सामान्य चित्र क्या मनमें स्थान पा सकते हैं? इस दशामें सभी एक समान जान पडने लगते हैं। एक ही भूमिमें दोनों प्रकारके ये चित्र हैं। इस भूमिका नाम है रिपु प्रबल मानव प्रकृति। जो रुचि घोर शत्रुके प्रकाण्ड चित्रमें पहले मुग्ध हो चुकी वह भला उसीके क्षुद्र चित्रकी विरोधी क्यों होने लगी? शेक्सपियरके वियोगान्त नाटकोंका प्रभाव पहले पडता है। फिर वियोगान्त सयोगान्त (Tragi-Comedy) का और अन्तमें सयोगान्तका।

वहाँ भी वही शत्रुकी प्रबलता और इन्द्रिय-लालसाकी प्रधानता देख पडती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उनकी उतनी प्रधानता नहीं है। वहाँ रोमियो जूलियटके समान साघातिक शत्रुका उच्छ्वास नहीं है। शत्रुका वेग कुछ धीमा पड़ गया है। वहाँ भी यौवनकी उन्मत्तता और अधीरता और इन्द्रिय-लालसाके घोर उन्माद और आवेग दिखाई पडते हैं। बेनाडिकके मनमें जब प्रेमकी तरङ्ग उठी तब उसकी अधीरताका क्या कहना! बियेट्रिसकी अपेक्षा भी वह अधिक अधीर हो गया। रोसोलिंड यौवन रागसे इतनी उन्मत्त हो गई कि घंटेभर भी अरलैंडके विना देखे न रह सकी। शेक्सपियरके

संयोगान्त नाटकोंमें प्रेमका चित्र, यौवनकी उन्मत्तता और इन्द्रिय-लालसाकी इतनी कलंकित मूर्ति देख पड़ती है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि यह प्रेम-चित्र है या इन्द्रिय लालसाका चित्र। उस इन्द्रियलालसा और यौवनमदसे उन्मत्त होकर नायक और नायिका सामाजिक और पारिवारिक शासनके सभी नैतिक बन्धनोंको तोड़कर यथेच्छ कार्य करते हैं। डेस्डिमोनाने पिताके शासनकी अवहेलना कर और यौवन-मदसे उन्मत्त होकर खुली अदालतमें जिस निर्लज्जताका परिचय दिया था वह कहने लायक नहीं है। जूलियट और आइमाजिन भी पिताके शासनके विरोधके खास नमूने हैं। हर्मिया लाइसैन्डरको लेकर वनमें भाग गई थी। इस प्रकार उसने पिताके शासन और राजशासनसे अपनेको मुक्त किया था। *

इसमें सन्देह नहीं कि युवकोंके लिये प्रेम सम्भाषण बहुत मधुर होता है। शेक्सपियरमें ऐसे स्थल अनेक हैं। किन्तु उनमें यौवनकी उन्मत्तताका ही चित्र है। उस उन्मत्तताका, जो गुरुजनोंके किसी प्रकारके शासनको नहीं मानती—जो सम्पूर्ण नैतिक शासनोंसे एकदम परे है—पापचित्र सर्वत्र देख पड़ता है। ऐसे ही दुर्दान्त प्रेमके वशीभूत होकर जेसिका अपने निर्धन यहूदी पिताको छोड़कर बेलमन्टमें लारेंसके पास भाग गई थी। ऐसे व्यापार यूरोपमें बहुत होते हैं, इसीसे शेक्सपियरके नाटकोंमें इनकी इतनी अधिकता है। होमरके महाकाव्यमें भी पैरिसके साथ हेलेनके व्यभिचार और पला-

* इनकी घटनाके लिये हिन्दी शेक्सपियर देखो।

-चनका चित्र अंकित है। हमारे नवयुवक विद्यार्थियोंके सामने इस प्रकारके चित्र निरन्तर रहा करेंगे तो उनकी कल्पना निश्चय दूषित हो जायगी। यदि यही बात है तो शृङ्गार रससे लबालब भरे हुए अन्यान्य उपन्यास पढानेमें क्या हर्ज है? शेक्सपियरने यूरोपीय समाजके चित्र खींचनेमें ऐसे ही अनेक पापाचित्र चित्रित किये हैं।

यह नहीं कहा जा सकता कि पाश्चात्य जनसमाजमें आदर्श प्रेमके नाटक नहीं हैं। किन्तु ऐसे बहुत ही कम नाटक हैं जिनमे प्रेमके सुन्दर चित्र चित्रित किये गये हों। शेक्सपियर आदिके काव्य, नाटक, उपन्यास सभी इस दोषसे कलंकित हैं। क्या ऐसे ही चित्र अंकित करनेसे मानव प्रकृति उज्ज्वल हो सकती है? ✓

पाश्चात्य जनसमाजमें मानव प्रकृतिकी जैसी रीति नीति प्रचलित है उसीका यथार्थ चित्र शेक्सपियरने खींचा है। केवल शेक्सपियरने ही नहीं, अन्यान्य कवियों और औपन्यासिकोंने भी एक ही प्रकारका चित्र खींचा है। शेक्सपियरके सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण उनके नाटक यूरोपके आदर्श हुए हैं। रूप गुणके मोहसे जो अनुराग उत्पन्न होता है वह यौवनमें कितना दुर्दमनीय होता है, इसीका चित्र हम पाश्चात्य साहित्य में देखते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्तका अनुराग रूपज कहा जा सकता है। पर जब दुष्यन्तने शकुन्तलाका प्रत्याख्यान किया था तब आत्मसंयमका उत्कृष्ट परिचय देकर पाशव प्रवृत्तिको दबा दिया था। शकुन्तलाके रूपज अनुराग पर सलज्जताका एक ऐसा आवरण डाला गया है कि उसमें

एक मधुर भावका मिश्रण हो गया है। ऐसा माधुर्य्य हम पाश्चात्य प्रेममें नहीं देखते। उसमें केवल माधुर्य्यका मिश्रण ही नहीं है, उस चित्रसे पापकी मलिनता दूर हो गई है। क्योंकि रूपज अनुराग उसी स्थलपर पापसे कलङ्कित होता है जहाँ वह विधि विपरीत होकर शत्रु-भावमें परिणत होता है। शकुन्तलाका अनुराग प्रबल आसक्तिमें परिणत होनेके पहले ही दुष्यन्तने उससे विवाह कर उस अनुरागको विधि-अनुकूल कर दिया था। गान्धर्व विवाह राजाओंके लिये दूषित नहीं है। इससे दुष्यन्तके विवाहमें वैसा पाप भाव नहीं है।

कालिदासके इस प्रेमाचित्रकी आलोचना करके उसके साथ पाश्चात्य साहित्यके प्रेमचित्रकी विभिन्नता दिखलाई जाती है।

शकुन्तला नाटक प्रारम्भ करनेके साथ ही आँखोंके सामने एक अपूर्व प्रेमाचित्रका उदय होता है। शकुन्तला कैसे प्रेम परिपूर्ण होकर आश्रमके वृक्षोंकी सेवामें लगी हुई है, कैसे प्रेमके साथ वृक्षोंके थालोंमें जल डाल रही है, और सखियाँ कैसे प्रेमके साथ निःसकोच होकर सलाप कर रही हैं। उनपे मनमें पहले ही पूर्वानुरागका सचार हुआ था। वे माधवी लताके साथ सहकार-आमका विवाह करके क्रीडा कौतुक कर रही थीं। उसी समय दुष्यन्तका प्रादुर्भाव हुआ। दुष्यन्तके समक्ष शकुन्तलाके सलज्ज भाव और मौनावलम्बनका कालि दासने प्रकृति-सगत चित्र खींचा है। वहाँ यूरोपीय युवतियों समान धृष्टता और वाचालता नहीं है। शकुन्तलाकी सलज्ज और नीरवताने दुष्यन्तको जिस पूर्वानुरागका परिचय दि

Theseus—Rather your eyes must with his judgement look *

इसीसे देखा जाता है कि जहाँ निर्वाचनकी शक्ति नहीं, जहाँपर शत्रुकी अन्धता ही प्रबल है, वहाँ पिता माताके निर्वाचनसे ही सहमत होना उचित है। इसीसे आर्य जातिमें,सदाके लिये, जिस विवाहमें वर कन्याका सम्बन्ध एक हो जाता है उसमें, उनके निर्वाचनका अधिकार पिता-माता वा सुविज्ञ अभिभावकके हाथमें ही समर्पित रहता है। अपने विवाहके लिये जब आदमी लालायित नहीं होता तब दूकानदारी करके प्रेम शिकार करनेकी आवश्यकता ही क्या ? इसी लिये हिन्दू समाजमें स्त्री जातिकी लज्जाशीलता एक स्वाभाविक गुण हो जाती है। वह लज्जाशीलता शकुन्तलामें बडी ही मधुर प्रतीत होती है।

शकुन्तला और मिरेन्डा

जैसे शकुन्तला संसारसे दूर रहकर वनमें ऋषिके निर्जन आश्रममें पली थी और आश्रमवासियोंके अतिरिक्त किसी दूसरेको नहीं जानती थी, वैसे ही शेक्सपियरकी मिरैंडा भी एक निर्जन देशमें अकेली पिताके यहाँ पाली पोसी गई थी। शकुन्तलाके यौवनमें जिस समय प्रेमोद्रेक हुआ था उसी समय उसका दुष्यन्तके साथ साक्षात्कार हुआ था। उस समय उसका जो नीरव सलज्ज व्यवहार हुआ था उसकी व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं। किन्तु शेक्सपियरने ऐसे स्थानमें,

* तुझे उचित है कि पिताकी आँखोंसे ही देखे।

देखिये, कैसा व्यवहार दिखलाया है । मिरैण्डाने पिताके अतिरिक्त दूसरेका मुखतक नहीं देखा था । किन्तु जब फर्डिनैण्डके साथ उसकी भेंट हुई तब वह इस तरह उससे बातें करने लगी जैसे बड़ी बूढी स्त्री बातें करती है । शकुन्तलासे साक्षात्कार होने पर दुष्यन्तने ही गान्धर्व विवाहका प्रस्ताव उपस्थित किया था । किन्तु यहाँ मिरैण्डाका कैसा व्यवहार होता है, सो देखिये—

मिरैण्डा—क्या तुम मुझसे प्रेम करते हो ?

फर्डिनैण्ड—हम देवता, देवी, पृथिवी, सबके सामने कहते हैं, शपथ करके सत्य कहते हैं कि हम केवल तुमसे प्रेम ही नहीं करते बल्कि तुमको एक कुलीन कन्या समझकर तुम्हारा सम्मान करते हैं । तुम्हारा जितना गौरव है, हम उसे तुच्छ समझते हैं ।

मि०—फिर जिससे मैं हँसती हूँ उसीसे रोती क्यों हूँ ?

फ०—तुम क्यों रोती हो ?

मि०—मैं अपनी हीनता और दीनता समझकर रोती हूँ । मैं तुम्हें जो दूँगी उसे तुम स्वीकार करोगे, इसकी मुझे आशा नहीं है । और जिसके न पानेसे मैं मरी सी जाती हूँ वह अपना आप तुम मुझे दोगे,इसकी भी आशा नहीं रखती । इसीसे रोती हूँ । किन्तु इन बेकार बातोंको जाने दो । मैं जिसे छिपाना चाहती हूँ वह बाहर निकला पड़ता है । मैं लज्जा और चातुरीको धो बहाकर साफ साफ कहती हूँ कि यदि तुम मुझसे विवाह करोगे तो तुम्हारी पत्नी होकर रहूँगी । यदि न करोगे तो तुम्हारी लौंडी होकर रहूँगी ।

फ०—तुम मेरे प्राणोसे भी प्यारी हो। क्या मैं तुम्हारे योग्य हूँ ?

मि०—तब तो तुम मेरे प्राणनाथ स्वामी हो।

ऐसी चातुरी भरी मोहिनी बाते मिरैण्डाने कहाँसे सीखी? उसने क्या यह नहीं कहा था कि मैंने अबतक मनुष्यका मुँह नहीं देखा है ? क्या वह तीन वर्षकी उम्रमें ही निर्जन द्वीपम नहीं लाई गई थी ? वहाँ उसने बारह वर्षतक पिताको छोडकर और किसीका मुख नही देखा था। फिर उस वनवासिनी युवतीमें ऐसी वाग्रचनाचातुरी कहाँसे आई ? शकुन्तलाके आश्रममे तो एक प्रकार जनसमाजका होना भी कहा जा सकता है। वहाँ ऋषिके चेले थे, गौतमी थी, अनुसूया और प्रियम्वदा दो सखियाँ भी थीं। फिर ऋषियोंके आश्रममें पहले कौन नहीं जाता था ? इतना होने पर भी शकुन्तलाके मुखसे ऐसी कौशल भरी बातें नहीं निकली थीं। उस शकुन्तलको इतना भी साहस नहीं हो सका था कि वह स्वय पहले विवाहका प्रसङ्ग छेडती। दुष्यन्तने ही पहले विवाहका प्रसङ्ग उठाया। प्रसङ्ग उठनेपर भी शकुन्तलाने इतने कौशलसे आत्म प्रकाश नहीं किया था। शकुन्तला बराबर लज्जासे सिर झुकाकर खड़ी रही। मानव प्रकृति सर्वत्र ही समान होती है। मिरैण्डा जन-समाजमें तो शिक्षित हुई नही थी कि उस समाजके ढगकी एकदम नकल करती, या उस समाजमें तरुणी कुमारीके समान बोलने चालनेमें होशियार हो जाती। मालूम होता है, जैसे स्वभावत शेक्सपियरने जूलियट, रोसेलिण्ड, बिएट्रिस, आइमजिन, डेस्डिमोना, हर्मिया आदि

ुर युवतियोंमें जो भाव दिखलाया था वही मिरैण्डाने भी
खलानेमें वे सङ्कुचित नहीं हुए। शकुन्तलाकी व्यवहारा-
त सरलता, लज्जाशीलता तथा स्वाभाविक और यौवनसुलभ
मपरिचयका चित्र शेक्सपियरके पाश्चात्य समाजमें ढूँढनेसे
हीं मिल सकता है ? उसकी कल्पना करना भी सहज नहीं
। मानव प्रकृतिका यह सौन्दर्य केवल आर्य साहित्यमें ही
खलाई पड़ता है।

मिरैण्डाकी सरलतामें साहस मिला हुआ है। लज्जा किसे
ते हैं, लज्जाका व्यवहार कैसा होता है, यह मिरैण्डाने कभी
ीं देखा। जब उसके जीमें जो आता तब वही कह डालती।
नके वेगको वह छिपा नहीं सकती थी। उसकी इसी सर-
तामें मनका भाव दर्पणके समान प्रकाशित हो जाता है।
दि ऐसी बात हो तो फर्डिनेण्डके साथ मिरैण्डाका [illegible]
लाप अवश्य सरल और स्वाभाविक कहा जा सकता है।
दयके आवेगसे जो निकलता है वह अवश्य प्रकृति [illegible]
सरल भाषामें होता है, इसमें कुछ कहना ही नहीं है। [illegible]
मिरैण्डाका वार्तालाप स्वाभाविक माना जाय तो यह [illegible]
करना होगा कि यह कहाँ तक सम्भव हो सकता है। [illegible]
के मुखसे प्रेमकी ऐसी बातें, अपने विवाहके लिये इतनी [illegible]
रता और मनके आवेगको इस प्रकार प्रकट करना, [illegible]
बहुत दूर रहनेवाली एक सरला युवतीके चरित्रमें
हो सकता है, यह हम नहीं समझते। उसने कहा

"Hence bashful cunning"

इस प्रकारकी 'सलज्ज चातुरी' उसे कैसे ज्ञात हुई ? सलज्ज चातुरी अलगकर उसने फिर कहा था—

"And prompt me plain and holy innocence"*

उसने चातुरी और सरलताका भेद कहाँसे सीखा ? उस सरलताकी पवित्रता उसने कैसे जानी ? देखिये, वह फर्डिनेण्डसे क्या कहती है—

'I am your wife, if you will marry me. If not, I'll die your maid to be your fellow you may deny me, I'll be your servant, whether you will or no "†

स्वाभाविक हृदयावेगका प्रकाश करनेमें मिरैण्डाकी इतनी चतुरता उसकी सी निर्जनमें रहनेवाली सरला ललनाको शोभा नहीं देती। ऐसा सम्भव भी प्रतीत नहीं होता। इस सलापमें उसका यौवनसुलभ हृदयावेग और इन्द्रिय-लालसा स्पष्टत. प्रकट होती है। मिरैण्डा विवाहके लिये उतनी ही अधीर है जितना कि फर्डिनेण्ड। शूर्पणखाकी अधीरता और आग्रहसे मिरैण्डामें क्या फर्क पड़ता है ? शेक्सपियरमें यौवनकी उन्मत्तता और अधीरताके ऐसे ही चित्र हैं। मिरैण्डा इन्द्रिय-लालसाकी प्रबलता और अधीरताका खासा नमूना है।

* आपही मुझे स्पष्ट और पवित्र साधुताका उपदेश दीजिये।

† यदि आप मुझसे व्याह कर लेंगे तो मैं आपकी स्त्री होकर रहूँगी। यदि नहीं तो आजीवन कुमारी हो रह जाऊंगी। मैं आपकी सहधर्मिणी होऊँगी। यदि आप इसे अस्वीकार करेंगे तो दासी बनूँगी। इसे आप मानें चाहे न मानें। —अनु०।

कविकी आदर्श सृष्टि

शेक्सपियरने जैसे मनुष्यके काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, द्वेष प्रभृति आसुरिक और पशुत्व प्रवृत्तियोंका [illegible] का असामान्य चित्र खींचा है वैसे ही आर्य कवियोंने प्रेम, दया, दाक्षिण्य, क्षमा प्रभृति धर्म प्रवृत्तियोंका उत्कर्ष दिखलाया है। संसार क्षेत्रमें ऐसे उदाहरण विरले ही मिलते हैं। जैसे [illegible] मैकबेथ दुर्लभ हैं वैसे ही सीता सावित्री भी दुर्लभ हैं। किन्तु कविकी सृष्टि दुर्लभ नहीं है। कवि कल्पनाके बलसे उन आदर्शोंकी सृष्टि करके मनुष्यकी सहायता किया करते हैं। मनुष्योंकी कल्पनाके आगे उस आदर्शको रखनेके लिये ही आदर्श सृष्टि होती है। अगर ऐसा न हो तो संसारमें हम जो दिन-रात देखा करते हैं उसके लिये काव्य सृष्टिकी आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि वह तो मनुष्योंकी आँखोंके सामने नाचनेवाली वस्तु है। कवि, जो देख पड़ता है उससे कहीं उच्च आदर्शकी सृष्टि करता है। वह आदर्श मनुष्यके हृदयमें वर्तमान रहकर उसको शुद्ध बनाये रखता है और प्रवृत्तियोंको सत्पथकी ओर परि-चालित करता है। ऐसे आदर्शोंकी सृष्टिके उदाहरण हमारे आर्य साहित्यमें सीता-सावित्री आदि हैं।

शेक्सपियरने जूलियटमें दिखलाया है कि हम [illegible] जबतक सामाजिक, पारिवारिक और वैवाहिक बन्धन नहीं तोड़ा जा सकता तबतक अपने शत्रुओंको परितोष [illegible] कठिन है। आर्य कवि यह दिखलाते हैं कि समाजके [illegible] बन्धन और शासनके अधीन होकर प्रेमका जो [illegible]

है उसीमें प्रेमका नैतिक सौन्दर्य देख पड़ता है। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु साधारण हैं। उन शत्रुओंको प्रबल न होने देना ही यथार्थ मनुष्यत्व है। हिन्दू समाज और साहित्यमें ऐसे ही मनुष्यत्वका प्रकाश फैला हुआ है।



साहित्यमें प्रेम

मनुष्यत्व

मनुष्यत्व क्या है ?

हम पहले दिखा चुके हैं कि आर्य साहित्यके प्रेमादर्शमें देवत्वकी कैसी सृष्टि है और पाश्चात्य साहित्यके प्रेममें कैसा पशुभाव है। जैसे मानव प्रकृति पाशव प्रकृतिका आधार है वैसे ही देव-प्रवृत्तिकी भी लीलाभूमि है। मनुष्यमें जितना ही देव-भाव आवेगा उतना ही पाशव भावका अन्तर्धान होगा। धर्मव्याधने कहा था कि जैसे सूर्यका उदय होनेसे अन्धकारका नाश हो जाता है वैसे ही पुण्य कर्मका उदय होनेसे पाप नष्ट हो जाता है। यूरोपीय साहित्य पाशव प्रवृत्तिको दमन करनेकी जितनी शिक्षा देता है उतना देवप्रकृतिको उत्तेजित करनेमें समर्थ नहीं होता। आर्य साहित्यमें पाशव प्रवृत्तिको दमन करनेके लिये दो उपाय हैं—(१) पापके भीषण परिणामको देखकर उसे छोड़ दो और पुण्यकी स्फूर्ति करके पाप पथसे अलग हो जाओ आर्य साहित्य इस बातको प्रत्यक्ष कर दिखाता है कि जित अधिक पुण्य होगा उतना ही पाप आपही आप अलग होग पुण्य और देवत्वका उच्च आदर्श खड़ा करके पापको दूर कर लिये आर्य कवियोंने रचनामें बड़ी निपुणता दिखलाई है। उच्चादर्शमें अपने हृदयको सलग्न करना ही मनुष्यत्व है।

मनुष्योंमें पाशव प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि मनुष्य स्वभावत उनकी ओर झुक जाता है। दूसरी ओर देवभाव अपनी ओर खींचता है। उनके पशुतुल्य कार्य दु खके और देवतुल्य कार्य सुखके घर हैं। दैवी कार्य करनेका सुख जैसा स्थायी होता है उसकी तुलनामें पाशव प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाला सुख कुछ है ही नहीं। पाशव प्रवृत्तिसे सुख-दु ख उत्पन्न होते हैं, किन्तु देवप्रवृत्तिसे मनमे शान्ति आती है। इसी शान्तिके लिये लालायित होकर मनुष्य पाशव प्रवृत्तिको त्याग देता है। चिन्ता और विचार-शक्तिसे मनुष्यकी बुद्धि विमल हो जाती है और वह सदुपायको ढूँढ लेता है। इसी सदुपायका निर्णय करने और उसे अपनानेमें मनुष्यत्व देखा जाता है। मनुष्य यहीं पशुसे श्रेष्ठ हो जाता है। देवताओंको यह सदुपाय आपही आप प्राप्त रहता है, इसीसे देवताकी अपेक्षा मनुष्य निकृष्ट रहता है। जिनके लिये इस उपायका अवलम्बन जितना ही सहज होगा उनमें देवभावका उतना ही विकाश होगा और वे देवता समझे जायँगे। हिन्दू समाजमें ऐसी रीतियाँ चलाई गई हैं जिनसे लोग इस सदुपायका अवलम्बन करें। हिन्दू समाजकी रीति नीति इसी लिये मनुष्यत्व-प्राप्तिकी सहायक है। उन्हीं रीति-नीतियोंसे पशुत्वका परित्याग और देवत्वका लाभ होता है। उसके लिये जिस सयमकी आवश्यकता है वही सयम हिन्दू समाजका प्रधान बल है। जिस परिमाणमें यह बल होगा उसी परिमाणमें देवत्वकी प्रतिष्ठा होगी। क्योंकि देवत्व लाभके निमित्त उक्त रीति नीति दृढ बन्धन है। इस बन्धनका त्याग करना क्या है मानों देवभावसे अलग होना है। इन बन्धनोंमें

पढ़कर जो संयमी हो सकते हैं वे [illegible] होनेमें समर्थ हैं। इस [illegible] जिस संयमका प्रयोजन है [illegible] है। आर्य साहित्यमें इसी [illegible] है।

सतीत्व-गौरवका धर्म-बल

पहले सतीत्व गौरवसे परिपूर्ण होकर [illegible] रत्व और संयमका परिचय दे चुके हैं, इसमें [illegible] यह बहुत अच्छी तरह देख पड़ता है। इसी गौरवसे [illegible] अपनी पवित्रताकी रक्षाके लिये प्राण देनेमें भी [illegible] हटीं। कितनी राजपूत स्त्रियाँ मुसलमानोंके भयसे आगमें [illegible] कर खाक हो गई हैं। स्वामीसे वियुक्त होकर [illegible] पल भर भी नहीं जी सकतीं। जिसका गौरव इतना [illegible] चढ़ा है वह वीराङ्गना पतिके साथ ही [illegible] नहीं सकुचाती—वह मृत पतिकी चिता पर सुखसे चढ़ जाती है। जिस आन्तरिक तेजसे ये सब कार्य होते हैं क्या वह साधारण बल है? उसी बलसे बलवती होकर हिन्दू सती [illegible] अपने अपूर्व संयमका परिचय देती है। [illegible] सारे दुःखोंको झेलती है और अपना [illegible] होती है। इस समय सतीत्व गौरवका [illegible] जाता है। क्या [illegible] जाता है उतना ही वह बल भी [illegible] आज उसके प्रयोगके [illegible] हम स्त्रियोंको दे सकते हैं? यदि नहीं तो [illegible] हैं? [illegible] गौरव उनके सामने दूर क्यों होते जाते हैं

जोड़का कोई गौरव नहीं, यह निश्चय है। आर्य साहित्यमें वर्णित इस सतीत्व-गौरवको सजीवित रखना ही हमें उचित है। यदि वह उत्तेजना फिर भी स्त्री-जातिमें आवे तो उससे जो बल होगा वह पर्वतकासा दुर्गम होगा। उस अलङ्घ्य बलसे बलवान् हमारा स्त्री समाज यदि फिर भी पूर्ववत् हो जाय तो उसे किसी अन्य धर्म या नैतिक बलकी आवश्यकता नहीं रहेगी। इसी लिये हमारे समाजमें पूर्वके सतीत्व-गौरव की जिस उपायसे रक्षा हो उस उपायको अपनाना और जिससे उस गौरवका ह्रास हो उसे छोड़ना हमारा आवश्यक कर्तव्य है।

स्त्रीका संयम-बल

इसी सतीत्व गौरवकी रक्षाके लिये रामकी माता कौशल्याने आत्मसंयमका अपूर्व परिचय दिया है। स्वामी दशरथ कैकेयी-के एकदम वशीभूत हो गये थे, इस कारण उसे अपार कष्ट तो था ही, उसपर कैकेयी दिन रात उसे व्यंग वचनोंके बाणोंसे बेधा करती थी। यहाँ तक कि कैकेयीकी दासी भी जली कटी बातें सुना दिया करती थी। इतने पर भी कौशल्या दशरथसे प्रेम करती थी। वह समझती थी कि जब बेटा राज-गद्दी पर बैठेगा तब हमारे सारे दुःख दूर हो जायँगे। रामचन्द्रके अभिषेकका समय आया। कौशल्याका हृदय आनन्दसे भर गया। किन्तु कुछ ही कालके बाद राम मात[illegible] लिये विदा होने आये। उस समय वह हृद[illegible] गया। उसे चारों ओर अन्धकार देख[illegible]

कौशल्याके हृदयमें प्रबल वात्सल्य प्रेम उमड़ पड़ा। अब वह अयोध्यामें कैसे ठहर सकती है? कौशल्याका सुख अब अयोध्यामें रहनेमें नहीं है बल्कि रामके साथ वनमें रहनेमें ही है। कौशल्या मनके दारुण वेगसे रामके साथ वन जानेके लिये उद्यत हुई। लाख उपाय करने पर भी वह अयोध्यामें रहनेके लिये राजी नहीं हुई। अन्तमें रामचन्द्रने ज्यों ही सती-धर्मकी ओर लक्ष्यकर यह कहा कि जबतक पूज्य पिताजी जीते हैं तबतक तो उनको छोड़ना उचित नहीं, त्यों ही कौशल्या चकित हो गई। उसने मनके दारुण आवेगको प्रबल कर्तव्यके बलसे दबा डाला। एक ओर पुत्र प्रेम और दूसरी ओर पति-प्रेम, इनके बीचमें सती कौशल्याका कर्तव्य पड़ गया। कर्त-व्यने मनमें आत्मसंयम भर दिया। अब कौशल्या दशरथको छोड़कर रामके साथ वन जानेमें समर्थ न हो सकी। प्रेमकी एक तरङ्गने दूसरी तरङ्गको रोक दिया। पुत्र प्रेमपर पतिप्रेम विजयी हुआ। सती फिर दशरथकी सेवा करनेमें प्रवृत्त हुई।

रामका वनवास पिताकी आज्ञामें हुआ था। पर लक्ष्मण क्या वनमें गये? उनके जानेपर भी सुमित्रा अधीर न हुई। सुमित्राका धैर्य कौशल्यासे भी बढ़ा चढ़ा है। सुमित्राके विषादका कभी किसीने पता पाया? सुमित्राका आत्मसंयम भीतर ही भीतर अपना प्रबल प्रभाव दिखा रहा था। किन्तु सतीने [विषादको म]नमें दबाकर प्रसन्न मन और अकातर भावसे लक्ष्मणको विदा कर दिया और आप घरमें ही रही।

आत्मशासन देखना हो तो शेक्सपियरकी इसाबेलामें

देखिये। इसावेलाने अपने सारे सांसारिक प्रेमको भगवानके समीप अर्पित कर दिया था। उसका मनुष्यप्रेम देवप्रेममें परिणत हो गया था। आर्य विधवाका समस्त सांसारिक अनुराग जैसे देवताको ही निवेदित होता है वैसे ही इसावेलाकी सारी अनुरक्ति ईश्वरको ही समर्पित हुई थी। इसावेला ऐसे ही देवप्रेममें परिपूर्ण होकर धर्ममठमें पैठी थी। उस समय उस नवीन तपस्विनीका धर्मानुराग दर्शनीय ही था। देवभक्ति का ऐसा चित्र शेक्सपियरने केवल कैथोलिक धर्ममें ही देखा था। आधुनिक समालोचकोंने ऐसे मठोंकी बौद्ध मठोंसे तुलना की है। जो कुछ हो, नवीन तपस्विनी इसावेला अपने भाईकी प्राणरक्षाके लिये आधी रातको अकेली एंजिलाके पास पहुँची थी। एंजिलाने उस समय अपना पापाभिलाप प्रकट किया, पर यह इसावेलाको असह्य हुआ। उसने धर्मकोपसे प्रज्वलित होकर कहा—

"मेरे भाईकी जान भले ही चली जाय, किन्तु उसको बचानेके लिये धर्मको धो बहाकर बहन कभी कलंकिनी नहीं होगी"।

फिर जब उस भाईने ही अपनी बहनसे पापमें प्रवृत्त होनेका अनुरोध किया तब इसावेलाने गरजकर कहा—

"रे दुराचारी पापी! अपनी बहनको कलंकिनी बनाकर तू जीना चाहता है? तुझे धिक्कार है!"

इन दोनों स्थानोंमें इसावेलाने अपने धर्म और पवित्रता-को बचाकर आत्मसंयमका सुन्दर परिचय दिया था। इसा-बेलाका हृदय जब धर्मानुरागसे पूर्ण और पूत हो गया था, जब वह नये अनुरागसे मठमें प्रवेश करनेको उद्यत हो गई

थी तब यदि उसने एजिलाका तिरस्कार कर दिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उस समय उसके सुन्दर मनोवेगके सामने क्या पापी एजिला ठहर सकता है? यदि ऐसे ही चित्र शेक्सपियरमें होते तो उनका सम्मान बहुत अधिक बढ जाता।

कीचकके प्रलोभनके समय द्रौपदीने भी ऐसा ही आत्म-सयम किया था। मेरी राय तो यह है कि द्रौपदीके एक धार्मिक चित्रकी समानतामें यह दृश्य उपस्थित किया जा सकता है।

पुरुषका संयम

भरतका आत्मशासन देखिये। भरतके लिये अयोध्याका सिंहासन प्रस्तुत है। माताने सारे कण्टकोंको दूरकर सिंहासनको निष्कण्टक कर दिया था। किन्तु भरतने क्या उस सिंहासनको ग्रहण किया? उन्होंने अपनी माताके सार कामोंकी कड़ी आलोचना कर डाली। राम लक्ष्मणको वनवास देकर वह सिंहासन मोल लिया गया था, पूज्य पिताका प्राण-वियोग हुआ था, परिवारमें कुहराम मच गया था, अयोध्या-वासी हाहाकार कर रहे थे, और साम्राज्यभरमें शोक छा गया था। क्या उस समय भरत सिंहासनपर बैठ सकते थे? उस समय नहीं तो पीछे ही क्या वे बैठ सकते थे? नहीं। उनकी भ्रातृभक्ति उस समय जाग्रत हुई। उसी भ्रातृभक्तिके वशीभूत होकर उन्होंने माताकी निन्दा की और सिंहासनका लोभ छोड़ा। जब राम उनके लौटाने—अनुनय विनय करने पर भी घर नहीं लौटे तब उन्होंने उस सिंहासनपर रामकी चरणपादुका रक्खी और अनासक्त हो राजकाज सँभाला। वे

देखिये। इसावेलाने अपने सारे सासारिक प्रेमको भगवानके समीप अर्पित कर दिया था। उसका मनुष्यप्रेम देवप्रेममें परिणत हो गया था। आर्य विधवाका समस्त सासारिक अनुराग जैसे देवताको ही निवेदित होता है वैसे ही इसावेलाकी सारी अनुरक्ति ईश्वरको ही समर्पित हुई थी। इसावेला ऐसे ही देवप्रेममे परिपूर्ण होकर धर्ममठमें पैठी थी। उस समय उस नवीन तपस्विनीका धर्मानुराग दर्शनीय ही था। देवभक्ति का ऐसा चित्र शेक्सपियरने केवल कैथोलिक धर्ममें ही देखा था। आधुनिक समालोचकोंने ऐसे मठोंकी बौद्ध मठोंसे तुलना की है। जो कुछ हो, नवीन तपस्विनी इसावेला अपने भाईकी प्राणरक्षाके लिये आधी रातको अकेली एजिलाके पास पहुँची थी। एजिलाने उस समय अपना पापाभिलाप प्रकट किया, पर यह इसावेलाको असह्य हुआ। उसने धर्मकोपसे प्रज्वलित होकर कहा—

"मेरे भाईकी जान भले ही चली जाय, किन्तु उसको बचानेके लिये धर्मको धो बहाकर बहन कभी कलंकिनी नहीं होगी"।

फिर जब उस भाईने ही अपनी बहनसे पापमें प्रवृत्त होनेका अनुरोध किया तब इसावेलाने गरजकर कहा—

"रे दुराचारी पापी! अपनी बहनको कलंकिनी बनाकर तू जीना चाहता है? तुझे धिक्कार है!"

इन दोनों स्थानोंमें इसावेलाने अपने धर्म और पवित्रता-को बचाकर आत्मसयमका सुन्दर परिचय दिया था। इसा-बेलाका हृदय जब धर्मानुरागसे पूर्ण और पूत हो गया था, जब वह नये अनुरागसे मठमें प्रवेश करनेको उद्यत हो गई

गया है। शेक्सपियर और उनके अनुयायी सैकड़ों उपन्यास-लेखकोंकी रचनाओंमें प्रेमका ऐसा देवोपम चित्र कहीं देख पड़ता है? देवत्वके द्वारा पशुत्वका अनुशासन कभी सम्भव है? उस अनुशासनके लिये आत्मशासन और मनुष्यत्व चाहिए।

भक्ति-संयत प्रेम

आर्य साहित्यके सभी प्रेमचित्र आत्मसंयमके प्रभावसे गौरवान्वित हैं। प्रेम कैसे भक्ति और आत्मशासनसे संयत होता है, यदि यह देखना चाहते हैं तो केवल कौशल्याको ही नहीं, वाल्मीकिकी सीता और सुमित्रा देवीको देखिये। देखिये व्यासकी कुन्ती, द्रौपदी और गान्धारीको। अरुन्धती, सावित्री और दमयन्तीको देखिये। देवयानी, शर्मिष्ठा और शकुन्तला-को देखिये। राधिका, रमा और उमाको देखिये। सुभद्रा रुक्मिणी और सत्यभामाको देखिये। फिर देखिये राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको। आत्मशासन देखना हो तो राजसभामें शकुन्तलाके सामने दुष्यन्तके चरित्रमें देखिये। और यदि सर्वोपरि आत्मशासनका विशाल चित्र देखना चाहे तो महाभारतका वह अंश देखिये जहाँ राजसभामें पाँचो पाण्डवोंके सामने द्रौपदीकी दुर्दशा हो रही है। पाँचो पाण्डवोंकी ओर एक नजर दौड़ाइये। भीम आवेशमें आकर होंठ चबा रहे हैं। बारबार उनकी दृष्टि युधिष्ठिरकी ओर जाती है। वे देखते हैं कि युधिष्ठिर जरा भी संकेत करें तो पृथ्वीको रसातल पहुँचा दूँ। अद्वितीय वीर अर्जुन आँखें लाल किये युधिष्ठिरको देखते हैं—देखते हैं कि कब ये सिर उठाकर कुछ करनेको मुझे इशारा देते हैं—

एक ओर रामकी पादुकाकी पूजा करते और दूसरी ओर उसी पादुकाके किंकर बनकर राज-काज चलाते। इस आत्म-संयमसे भरतने जो कुछ किया उससे वे राजसिंहासन क्या, देव-सिंहासनपर बैठनेके योग्य हुए। यदि भरत अयोध्याके राजा ही होते तो क्या होता? किन्तु भरत एक अयोध्याका सिंहासन छोड़कर सदाके लिये सभीके हृदय-सिंहासनपर विराजमान हुए। उनकी भ्रातृभक्तिने उन्हें देवता बना डाला। अब कचका आत्मशासन देखिये। कच शुक्राचार्यके यहाँ सजीवनी विद्या सीखनेके लिये गये। देवयानी उन्हें प्यार करने लगी। दिनभर वे एक साथ रहते। कचके रूप और गुणपर देवयानी मुग्ध हुई। देवयानीकी कृपासे वे चार बार जी कर उठे। किन्तु इतना होनेपर भी कच देवयानीकी पाप स्पृहासे अलग रहे। देवयानीके मनोभिलापको कच पूर्ण रूपसे जानते थे। इसीसे वे देवयानीको गुरुपुत्री और भगिनी समझते थे और बोलचालमें भी वही भाव रखते थे। अन्तमें कच अपनी इष्ट-सिद्धि करके घर जानेको उद्यत हुए। देवयानीने उन्हें घेरा। अन्तमे देवयानीने कचसे अपना मनोभिलाष प्रकट किया। कचने उसका प्रत्याख्यान कर दिया। उन्होंने उस समय आत्मसंयमका पूर्ण परिचय दिया। देवयानीने भी आत्मसंयम कर अपने अभिलापको दबाया। चन्द्रमा और तारा, शेक्सपियरके आइमजिन, हेलेना, डेस्डिमोना, जूलियट इत्यादिके प्रेममें जिस आत्मशासनका अभाव है, उसी आत्म-शासनके रहनेसे कच और देवयानीका प्रेमचित्र देव-सौन्दर्यसे परिपूर्ण हो गया है, इन्द्रिय-लालसाका प्रेमान्धकार अन्तर्धान हो

गया है। शेक्सपियर और उनके अनुयायी सैंकड़ों उपन्यास-लेखकोंकी रचनाओंमें प्रेमका ऐसा देवोपम चित्र कहीं देख पड़ता है? देवत्वके द्वारा पशुत्वका अनुशासन कभी सम्भव है? उस अनुशासनके लिये आत्मशासन और मनुष्यत्व चाहिए।

भक्ति संयत प्रेम

आर्य साहित्यके सभी प्रेमचित्र आत्मसंयमके प्रभावसे गौरवान्वित हैं। प्रेम कैसे भक्ति और आत्मशासनसे संयत होता है, यदि यह देखना चाहते हैं तो केवल कौशल्याको ही नहीं, वाल्मीकिकी सीता और सुमित्रा देवीको देखिये। देखिये व्यासकी कुन्ती, द्रौपदी और गान्धारीको। अरुन्धती, सावित्री और दमयन्तीको देखिये। देवयानी, शर्मिष्ठा और शकुन्तला-को देखिये। राधिका, रमा और उमाको देखिये। सुभद्रा रुक्मिणी और सत्यभामाको देखिये। फिर देखिये राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको। आत्मशासन देखना हो तो राजसभामें शकुन्तलाके सामने दुष्यन्तके चरित्रमें देखिये। और यदि सर्वोपरि आत्मशासनका विशाल चित्र देखना चाहें तो महाभारतका वह अंश देखिये जहाँ राजसभामें पाँचों पाण्डवोंके सामने द्रौपदीकी दुर्दशा हो रही है। पाँचों पाण्डवोंकी ओर एक नजर दौड़ाइये। भीम आवेशमें आकर होंठ चबा रहे हैं। बारबार उनकी दृष्टि युधिष्ठिरकी ओर जाती है। वे देखते हैं कि युधिष्ठिर जरा भी संकेत करें तो पृथ्वीको रसातल पहुँचा दूँ। अद्वितीय वीर अर्जुन आँखें लाल किये युधिष्ठिरको देखते हैं—देखते हैं कि कब ये सिर उठाकर कुछ करनेको मुझे इशारा देते हैं—

और सोचते हैं कि कुछ भी संकेत मिला तो कौरव सभाको नष्ट भ्रष्ट कर दूँगा। यदि आत्मशासन देखना चाहें, यदि धैर्य देखना चाहें, यदि भ्रातृभक्तिका बल देखना चाहें तो एक बार इस ओर देखिये। सामने गुणवती पतिव्रता द्रौपदीकी घोर दुर्दशा देखिये और इधर पाण्डवोंके बलविक्रमका खयाल कीजिये। उष्ण रक्तकी धारा बड़े वेगसे रग रगमें बह रही है। शत्रु घमण्डके मारे हँस रहे हैं, द्रौपदी क्रोध और अपमानसे अर्जुन और भीमकी ओर देखती है, तथापि भ्रातृभक्ति, धैर्य और आत्मशासनकी सीमाका उलङ्घन नहीं कर सकती। द्रौपदीने भगवानकी शरण ली। भगवानने द्रौपदीकी लाज रखी। आत्म शासनका ऐसा चित्र पृथिवीके किस कविने चित्रित किया है!

हमारे आर्य साहित्यमें इस प्रकारके अनेक प्रेमादर्श हैं। वह प्रेम भक्तिसे समुन्नत और स्नेहसे आर्द्र है। सीताका प्रेम पतिभक्तिमें विलीन हो गया है। सीताकी प्रत्येक बात और प्रत्येक व्यवहारसे प्रेम और भक्तिका परिचय मिलता है। ऐसी प्रेम भरी पतिभक्ति किसीने कहीं देखी है? ऐसी प्रेम भरी भक्ति भरत और लक्ष्मणकी थी। उत्तर रामचरितके प्रथम अङ्कमे सीताके प्रेम और भक्तिका विशेष विकाश है। छाया नामक तृतीय अङ्कमे सीताके प्रेममें रामचन्द्र बड़े ही अधीर हुए थे। जिस प्रेमके कारण वे सोनेकी सीता बनाकर सदा मानसिक दुःखसे रोते कलपते थे, उस प्रेम और हृदयवेदना का सुन्दर चित्र भवभूतिने इस अङ्कमें खींचा है। कौशल्या और जनकका प्रेम चतुर्थ अङ्कमे देखिये। सीताका वनवास तो हुआ था पर वह प्रेमके विचित्र मन्दिरमें जीवित थी। सीताके

वनवाससे वह प्रेम और भी उज्ज्वल हो गया था। उस प्रेमने यह प्रकट कर दिया था कि सीता रामकी कैसी प्रेमसर्वस्व सम्पत्ति है, जनकके कैसे आदरकी सामग्री है, कोशल्याकी कैसी बड़ी गृहलक्ष्मी है और देवर लक्ष्मणकी कैसी प्रेममयी और भक्तिमयी प्रतिमा है।

हिन्दू स्त्रियाँ बड़े आदरकी सामग्री हैं। वे गृहलक्ष्मी हैं। उन्हींसे हिन्दू परिवारकी मान-मर्यादा है। वे भक्तिसे पति, सास, ससुर आदिके अधीन हैं और स्नेहसे पुत्र और देवरके। उनकी स्वतन्त्रता कभी और कहीं नहीं है। जो सन्तानको गर्भमें धारण करती है, उनके उत्पन्न होनेपर लालन-पालनका भार उठाती है, वह स्वतन्त्र कैसे कही जा सकती है? उनकी पराधीनता एक प्रकार स्वाभाविक है। इससे हिन्दू स्त्रियाँ सैकड़ों बन्धनोंसे जकड़ी हुई हैं। मनुने ही इन बन्धनोंको नहीं बनाया। जिस प्रकार उन्होंने भक्ति, प्रेम और स्नेहने सबको बाँध रक्खा है उसी प्रकार सभीने उनको भी प्रेमपाशमें बाँधा है। परस्पर बन्धनमें बँधकर हिन्दू परिवार दृढ़ बना हुआ है। यह प्रेमकी अधीनता नहीं है, इसे प्रेमकी पुष्टि और पूर्णता कहना चाहिए। प्रेम भक्तिमें मिला हुआ है और भक्ति प्रेममें। भक्ति और स्नेहके सूत्रमें हिन्दू संसार गुँथा हुआ है। ऐसे ही संसारके चित्र और आदर्श हमारे साहित्यमें हैं।

हिन्दू पारिवारिक शासन

आर्य साहित्यके प्रेमादर्शमें हम यह कहीं नहीं पाते कि नायक नायिका परस्पर ये बातें कहते हुए दिखाई पड़ें कि हम

तुम्हें प्यार करते हैं, खूब प्यार करते हैं, शपथ करके कहते हैं कि हम तुम्हे खूब चाहते हैं। बार बार कहते हैं कि प्यार करते हैं, प्यार करते हैं, प्यार करते हैं। तुम्हारे लिये छाती फटती है, प्राण जाते हैं। हिन्दू समाजमे इस दूकानदारीकी आवश्यकता ही नहीं है। हिन्दू समाजमे जो जिसका कर्तव्य है उसका साधन करना ही उसके लिये यथेष्ट है। उसी कर्तव्यपालनमे यथेष्ट स्नेह और ममता, दया और दाक्षिण्य, भक्ति और प्रेम प्रकट होता है। विवाह करनेका भार गुरुजनोंके हाथमें रहता है। विवाहके बाद जो जिसका कर्तव्य है उसका साधन ही उसके लिये यथेष्ट समझा जाता है। यहाँ रूपपिपासा और इन्द्रियलालसा चरितार्थ करनेके लिये विवाह नहीं होता। इसीसे विवाह वर कन्याके हाथमें नहीं है। गुरुजन ही अपनी कन्या या पुत्रका विवाह कर देते हैं। यहाँ पतिक शासनमें स्त्री और स्त्रीके शासनमें पति रहता है। दोनो ही परस्परके शासनमें आबद्ध हैं। इसी पारिवारिक और नैतिक शासनमें लानेके लिये गुरुजन पुत्र-कन्याका विवाह करते हैं। ससारकी शृङ्खलामें शीघ्र बाँधनेके लिये ही थोडी अवस्थामे पुत्र-कन्याका विवाह कर दिया जाता है। जब यौवनका स्रोत बहने लगेगा, शत्रु प्रबल हो उठेंगे, उस समय पुत्र-कन्या ससारकी बेडीमें बँधे रहेंगे। उस समय वे ससारी हो चुके रहेंगे। उस ससारके बन्धनको काटनेके लिये उनकी शक्ति फिर कहाँ बची रहेगी? चारों ओरसे वे दृढ़ बन्धनमें बँधे रहेंगे। यह बडा कठिन बन्धन है। इसे काटनेकी शक्ति कहाँ और किसमें है? केवल परम भक्त ही ऐसा करें तो कर सकते हैं। नहीं तो हिन्दू

ससारसे एक पैर भी आगे बढाना कठिन है। यौवनमें पदार्पण कर हिन्दू ससारमें यथेच्छाचारी होना बड़ी कठिन बात है। जो समाज इस प्रकार बन्धनसे बँधा है उसमें प्रेमका चिल्ला चिल्लाकर प्रकाश नहीं किया जाता। वह आप ही आप प्रकाशित हो जाता है। सासारिक कार्योंमें वह प्रकाशित होता है। ससारके बन्धनोंमें वह और भी बढता है। ससारके महायज्ञमें उसकी मात्रा पूरी होती है। पतिपत्नीका प्रेम क्रमश अङ्कुरित होकर एक साथ रहने, ससारके कर्तव्य पालने, सन्तानोंके पालने पोसने आदिमें बढता है। पति-पत्नी जितना ही मिलकर कार्य करते हैं उतना ही उनका प्रेम बढता जाता है, जितना ही उनका सम्पर्क घनिष्ट होता जाता है उतना ही ममत्व बढता जाता है, उनके प्रेमकी मात्रा रोग, शोक, सेवा, यत्न आदिमें क्रमश परिपूर्ण हो जाती है। यह एक दो वर्षका सम्बन्ध नहीं, चिरजीवनका सम्बन्ध है। यूरोपीय समाजमें ऐसा नहीं है। वहाँ तो लड़के लडकियाँ जवान हो जाती हैं पर उनका विवाह नहीं, कोई सासारिक धर्म नहीं। वे स्वच्छन्द होकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। उनकी इन्द्रियलालसा प्रबल है, पर उस लालसाकी कोई व्यवस्था नहीं,—कोई पारिवारिक शासन नहीं। सर्वसाधारणका न तो कोई धर्म है और न कोई कर्तव्यज्ञान। है भी तो उतना प्रबल नहीं जिससे वे आत्मशासनमें स्थिर रहें। इसीसे वे यौवनके प्रबल प्रवाहमें बह जाते हैं। इस प्रवाहमें बहकर कौन कहाँ जा पडेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। यौवनकी प्रकृतिको रोक रखना बड़ा ही कठिन है। जहाँ हिन्दू ससारके सुदृढ शासनका अभाव है, वहाँ युवाओंमें

यथेच्छाचारी होना निश्चित ही है। इस दुर्दमनीय यौवनकी यथेच्छाचारिता ही हम विलायती साहित्यमें अधिकतर देखते हैं।

हिन्दू परिवारका प्रेम-विकाश

आर्य साहित्यके प्रेमादर्शमें पति-पत्नीका प्रेम अत्यन्त शान्त, किन्तु वर्द्धित और तरङ्गित देख पड़ता है। वह प्रेम पहले पूर्वानुरागसे प्रबल होता है। अल्पवयस्क पतिपत्नीके प्रेममें पूर्वानुरागकी प्रबल धारा प्रवाहित होती है। वह धारा भीतरही भीतर खूब बढ़ती जाती है। छिपा हुआ प्रेमस्रोत बाहर आकर प्रकट होना चाहता है। उस प्रेमस्रोतका थोड़ा आभास देखकर बड़ोंको बड़ा ही आनन्द होता है। नये अनुरागके प्रकाशित होनेके भयसे नवोढा अपने अन्तरमें बहुत यत्नसे उसे छिपाये रहती है। जितना ही उसे छिपानेका यत्न करती है उतनाही वह बढ़ता जाता है। बीच बीचमें उसकी बिजलीकीसी ज्योति चमक जाती है। इस पूर्वानुरागके अप्रकाश्य होनेके कारण ही हमारे आर्य साहित्यमें शान्त, थोड़ा और केवल सङ्केतसे उसका प्रकाश किया गया है। नवोढाका वह प्रेम क्रमश प्रौढ़ होता है और नवोढा प्रौढ़ा होकर गृहिणी बन जाती है। संसार उसी गृहिणीके प्रेमका है। उसका प्रेम फिर चारों ओर फैल जाता है और उसके पात्र होते हैं स्वामी, देवर, सास, ससुर, जेठ तथा अपने पुत्र, कन्या आदि। आर्य साहित्यमें इसका सुन्दर चित्र अङ्कित किया गया है। कौशल्या, गान्धारी, सुमित्रा, कुन्ती, सीता, द्रौपदी आदि

सभी इसी प्रेमके चित्र हैं। बूढ़ी हिन्दू स्त्रियाँ मायामोहमें अधिक जकडी हुई हैं। बूढी स्त्रियोंका हृदय स्नेहका समुद्र है। उसी स्नेहसे सारे ससारको उन्होंने वश कर रक्खा है। गौतमीका स्नेह ऐसा ही है, कौशल्याका स्नेह वही है।

आर्य साहित्यमें शृङ्गार

इसी प्रेमके वर्णनमें आर्य साहित्यके कालिदास प्रभृति आधुनिक कवियोंने शृङ्गार रसकी अवतारणा करके दाम्पत्य प्रेमका अनेक भाव-भङ्गीसे परिचय दिया है। इन वर्णनोंकी ओर उँगली उठाकर बहुतसे लोग यह कह सकते हैं कि क्या आर्य साहित्यमें विलासिता नहीं है ? हम कहते हैं कि है। किन्तु वह वैसे ही है जैसे चन्द्रमामें कलङ्क। जो वस्तुत चन्द्रमा है उसमें यदि कलङ्क हो तो उससे वह अधिक शोभायमान ही होगा। किन्तु जो वस्तुत चन्द्रमा ही नहीं है उसमें कलङ्क ही क्या ? वह तो आद्यन्त कलङ्क ही कलङ्क है। आर्य साहित्यके स्थान स्थानमें इस प्रकारके कलङ्क रहने पर भी, उसके सुधापूर्ण चन्द्रमाके समान काव्य रसका किसी प्रकार व्याघात नहीं होता। समग्र काव्य विलासिताके दूषित रससे कलङ्कित नहीं हैं। हमारे कविगण रसके चमत्कारको यथेष्ट समझते थे। जिस रससे हृदयको आर्द्र करना होता है, जो रस काव्य समाप्त होने पर हृदयमें स्थायी भावका सञ्चार करता है, वे उस रसकी ओर दृष्टि रखकर ही काव्यकी रचना करते थे। इसीसे किसी काव्यमें वीर रसकी, किसी काव्यमें करुणकी और किसी काव्यमें किसी अन्य रसकी प्रधानता है। उसके बीचमें अन्यान्य रसोंका

भी समावेश है, पर ये प्रधान रसमें किसी प्रकारका व्याघात नहीं करते। जो जिस रसका विरोधी नहीं है उसके समावेशसे काव्य अनेक रसोंसे अलकृत रहता है। काव्यमें अनेक रसोंके रहने पर भी उनका सङ्गठन प्रधान रस पर ही निर्भर रहता है। वही प्रधान रस हृदय पर बराबर अधिकार जमाये रहता है और काव्यकी समाप्ति होने पर स्थायी रूपसे विद्यमान रहता है। इसीसे आलङ्कारिकोंने कहा है कि "वाक्य रसात्मकं काव्यम्"।

स्त्रैण शासन

हिन्दू समाजमें जैसे पति-पत्नीका प्रेम व्यवस्थानुसार धीरे धीरे परिवर्द्धित होता है उसका दिग्दर्शन करा दिया गया है। इससे हिन्दू समाजमें पत्नी पतिके प्रति जितनी अनुरक्त और एकनिष्ठ होगी उतना ही पति भी पत्नीके प्रति अनुरक्त होगा। हिन्दू संसारमें अधिकांशत. पति-पत्नीका प्रेम अवश्य म्भावी है। पत्नीके प्रति पतिका प्रेम-भाव अत्यन्त विरल देखा गया है। सीता रामको जितना प्यार करती थी, राम भी सीताको उतना ही प्यार करते थे। पतिमें एकान्त अनुराग करके अपना जीवन बिताना पत्नीके लिये सम्भव हो सकता है, पर पत्नीके प्रणयपाशमें फँसकर अपने कर्तव्यकी उपेक्षा करना पतिके लिये उचित नहीं है। क्योंकि पत्नीमें विशेष अनुराग और पक्षपात होना स्त्रैणताका कारण हो जाता है। * ऐसा

* पत्न प्रेमी इस प्रसङ्गपर नाक भी सिकोड़ेंगे और अनुवादक पर भुँभलायेंगे। कारण यह है कि वे इस विचारको सङ्कुचित और पक्षपातपूर्ण समझेंगे। पर लेखकके विचारसे अनुवादक सहमत है। क्योंकि यदि दोनोंमें परस्पर उचित भाव रहेंगे

होनेसे समाजमें एक प्रकारकी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। पति केवल पत्नीका ही पति नहीं है। वह परिवारका भी पति है। समाजके साथ उसका बड़ा घना सम्बन्ध है। वह यदि राजा है तो समग्र प्रजामण्डलीका प्रतिपालक पति है। पत्नीका कर्तव्य केवल परिवारमें ही है, किन्तु पतिका कर्तव्य संसार भरमें है। इस कर्तव्य-बुद्धिका ध्यान रखते हुए अपनी भार्यासक्ति पर प्रभुत्व रखना आवश्यक है। ऐसे शासनमें असमर्थ होनेके कारण ही मेघदूतके यक्षको देशान्तर हुआ था। उस देशान्तरित यक्षका प्रेम कितना प्रगाढ़ था, इसका चित्र कालिदासने अपनी अतुलनीय लेखिनीसे चित्रित किया है। दूसरी ओर देखिये, रामचन्द्रने प्रजानुरागके वशवर्ती होकर सीताको वनवास तक दे दिया था। ऐसा करनेसे यह

धार्मिक, नैतिक और सामाजिक व्यवस्थाका निर्वाह हो ही नहीं सकता। साहित्यमें सर्वत्र ही अधिक भार्यानुरक्ति दूषित बतलाई गई है। 'अनासक्त सुख सेवेत्' की ही समुचित शिक्षा है। दुष्यन्तने शकुन्तलाके प्रति अपना अत्यधिक प्रेममात्र प्रकट किया तथापि वे अपने कर्तव्यको नहीं भूले। उन्होंने अपनी अत्यधिक आसक्ति न प्रकटकर ऋषियोंसे केवल यही कहा कि तुम्हारी शकुन्तला, मुझे पृथ्वी जैसी प्यारी है वैसी ही प्यारी होगी। यदि पुरुष स्त्रीके वश हो जायँ तब तो पाश्चात्य और प्राच्य समाजमें कुछ भेद ही न रह जायगा। हिन्दुओ सावधान! आप इस विचारको कभी न भूलें। पूर्वी हवामें उड़ न जायँ। आप बुद्धके समान पत्नीको कन्धेपर सदा लिये हुए न फिरें। आवश्यकता हो तो समय पड़ने पर उनके समान स्वाधीनपतिकाका मान भी भङ्ग कर डालें। आप रामके समान प्रेमी हों। पत्नीकी स्वर्णप्रतिमा न सही तो फोटोको ही कलेजेसे लगाकर प्रेम प्रकट करें, पर उनके समान ही अनासक्त बने रहें। भूलकर भी कभी किसीको बिहारी कविके समान ऐसा दोहा बनानेका अवसर न दें।

नहिं पराग नहिं मधुररस, नहिं विकास यहि काल।
अली कली हीमें बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

कभी कहा जा सकता है कि रामचन्द्र सीतासे प्रेम नहीं करते थे? आर्य साहित्यमें प्रगाढ़ पति-प्रेमको पतिभक्ति कहते हैं, पर प्रगाढ पत्नी प्रेमको स्त्रैणता कहते है, पत्नी भक्ति नही। हिन्दू समाजमें सुनियम-रक्षाके लिये जो व्यवस्था स्थापित है उसका पालन करना ही कर्तव्य है—मनुष्यत्व है।

स्वाधीनता और स्वेच्छाचारिता

हिन्दू समाजमे नर-नारियोंकी जैसी स्थिति है उसका कुछ दिग्दर्शन करा दिया गया है। इस समाजका सगठन ही ऐसा है जिसमे मानव प्रकृतिके पशुभावकी स्फूर्ति ही नही होती। देशाचारकी अनुकूलतामें देवभावका ही विशेष विकाश है। सभी देशाचार मनुष्यत्व और देवत्वके परिपोषक हैं। इसलिये देशाचारके अधीन होना मनुष्यत्व और देवत्वके अधीन होना है। सामाजिक बन्धनमें बाँधकर नरनारियोंको मनुष्यत्व की सीमाके भीतर रखना सामाजिक नीति और कौशल है। देव-भावकी अधीनता रखना ही मानवोंकी आत्माधीनता है। इसी प्रकार आत्माधीनता और पारमार्थिक परतन्त्रता ही मनुष्यकी स्वाधीनता है। आत्मा जब परमार्थके अधीन होता है तभी वह यथार्थत अधीन कहा जा सकता है। जो इस

चारिता है । जो स्वेच्छाचारिताको दूरकर प्रकृत स्वाधीनताके पथमें आते हैं वे ही मनुष्यत्वके यथार्थ पात्र हैं । हम देशाचारके अनुकूल चलनेसे ही उस प्रकारके मनुष्यत्वके पात्र हो सकते हैं । जो प्रेम प्रवृत्ति ऐसे मनुष्यत्वकी साधक है उसीका विकाश हिन्दू समाजमें है—आर्य साहित्यमें है ।

आर्य्य साहित्यमें प्रेम-गौरव

आर्य साहित्यमें प्रेमका विकास भक्तिमें दिखलाई पडता है । इसी भक्तिमें प्रेम बढ़ता और शासित होता है । इसी शासन और वृद्धिमें प्रेमका गौरव और उच्चता है । आर्य साहित्यका यह गौरव पाश्चात्य साहित्यमें जरा भी दिखलाई नहीं पडता । आर्य साहित्यकी पतिभक्ति, भ्रातृभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरुभक्ति, वात्सल्य, भार्यानुराग, शिष्यानुराग आदिमें जिस प्रकार प्रकार प्रेमके विकास और शासन देख पडते हैं वैसे पाश्चात्य साहित्यमें कहाँ हैं ? पाश्चात्य साहित्यमें कहाँ सीता, लक्ष्मण, राम या युधिष्ठिर दिखाई पडते हैं ? इनके होनेका स्थानही वहाँ नहीं है ।

बाल्यविवाहका शुभ परिणाम

आर्य साहित्यमें जो प्रेमादर्श है उसमें प्रेमका सौन्दर्य्य देख पडता है । सीता यदि सौन्दर्य्यकी सृष्टि कही जाय तो यह अवश्य कहना होगा कि आर्य साहित्यमें प्रेमका सौन्दर्य्य खिला हुआ है । आर्य साहित्य प्रकृत प्रेमके चित्रोंसे भरा हुआ है । स्त्री समाजमें प्रकृत प्रेमका सञ्चार करनेके लिये ही हिन्दू समाजमें बालविवाहकी प्रथा चली है । कोमलमति कन्याओंका

नया अनुराग थोडी ही अवस्थासे पति और गुरुजनोंमें होता है। जब प्रेमपुष्प हृदयमें मुकुलित होने लगता है तभी कोमल हृदयवाली कन्याएँ उपयुक्त पतियोंको समर्पण कर दी जाती हैं। उनका प्रेम स्वत. उपयुक्त पात्रको पाकर बढ़ने लगता है। यौवनके आरम्भके साथ साथ अनुराग भी बढकर पतिमें ही समर्पित हो जाता है। किशोरावस्थासे ही कन्याएँ श्वशुरकुलमें लालित पालित होनेके कारण उसी कुलसे उनकी ममता बढ जाती है और गुरुजनोंकी सेवामें उनका विशेष भाव हो जाता है। इसीसे आर्य नारियोंका ससार शान्ति निकेतन और प्रेममय हो जाता है। आर्य नारियाँ अनेक गुणोंका आधार होती हैं। पातिव्रत्य, प्रेम, स्नेह, ममता, भक्ति, सरलता, सत्यता, दया, क्षमा, धीरता, सहिष्णुता, कोमलता, अधीनता, लज्जाशीलता, श्रमशीलता आदि अनेक गुणोंसे आर्य नारियाँ भूषित हो जाती हैं। हमारी सुन्दर सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा और बालविवाहका ही यह फल है कि आर्य नारियाँ अनेक गुणोंसे भूषित हो जाती हैं। इस व्यवस्थामें उलट फेर होनेसे यह बात नहीं रह जायगी। यह व्यवस्था जिस प्रकार सुरक्षित हो, हमें वही उपाय करना चाहिए। *

* इस प्रसङ्गमे मैं सहमत नहीं हूँ। इसीसे लेखककी लम्बी चौड़ी दलीलोंका अनुवाद छोड़ दिया गया है। बाल्यविवाहके गुण भी हैं, दोष भी। पर दोषोंकी ही सख्या अधिक है। यदि इन दोषोंको दूर करनेकी चेष्टा की जाय तो बाल्यविवाह दूषित नहीं हो सकता। दोष सर्वसाधारणको विदित है। उनका विशेष उल्लेख अप्रासङ्गिक होगा। प्रौढ़ विवाह होनेके समय तक यदि बाल्यविवाहके दूषण युवकोंके मनमें न पैठें तो वही विवाह उत्तम है। इसके लिये बालकोंके लिये प्रारम्भसे ही आदर्श नैतिक शिक्षा, सुन्दर सहवास और अच्छी पुस्तकोंका पठन पाठन आवश्यक है। यदि युवक

विलायती प्रेमका साम्य-भाव

हिन्दू संसार और समाजमें जो भक्ति एक अपूर्व पदार्थ है, जो इस संसार और समाजका दृढ़ बंधन है, वह भक्ति विलायती साहित्य और समाजमें बहुत ही दुर्लभ है। क्योंकि वहाँ पति पत्नीके सम्बन्धमें उच्चता, नीचता और अधीनता नहीं है। वहाँ प्रेममें विनिमय है—अदला-बदला है। आप प्रेम कीजिये, हम भी प्रेम करेंगे। यदि यह बात नहीं है तो आप कौन, हम कौन? हममें आपमें कोई सम्बन्ध नहीं। आजसे आप अलग और हम अलग। उस समाजमें पति पत्नीका त्याग, स्त्रियोंका बहुविवाह, जवानीमें स्वेच्छाचारी होनेके कारण पति पत्नीमें साम्य भाव और स्वेच्छाचारिता बड़ी प्रबल है। इसीसे उस साहित्यमें इन दोनोंका ही पूर्ण परिचय मिलता है। उस साहित्यकी निरन्तर आलोचनासे पाठकोंके मनमें उसी साम्य भावका सञ्चार होता है। उस साम्य भावका प्रभाव अब हमारे हिन्दी साहित्यपर भी पड़ने लगा है। नये शिक्षा दीक्षा सम्पन्न लोग साम्य भावके प्रचारमें जोर लगा रहे हैं। किन्तु इस समाजमें विलायती प्रेम और साम्य भावके लिये स्थानही नहीं है। उनके प्रवेशसे बड़ा उपद्रव खड़ा हो जायगा। जिस समाजमें विवाह-बन्धनमें कोई उलट फेर नहीं, जहाँ पति पत्नीका सम्बन्ध चिरकालिक है, जो समाज भक्ति और प्रेममें गुँथा हुआ है, जो सतीत्व पतिव्रताओंका लीलाक्षेत्र है,

---

ब्रह्मचर्यका पालन ठीक ठीक न कर सकें और अभिभावक ऐसी व्यवस्था करनेमें असमर्थ हों तो बाल्यविवाह उचित है। पर ऐसा करना लाचारीकी हालतमें ही अच्छा है।

अनुवादक।

सरलता, प्रेम, कोमलता, लज्जा, दया, क्षमा आदि जहाँ स्त्रियोंके गुण हैं, वहाँ साम्य भावकी प्रबलतासे बडी भारी अशान्ति उठ खडी होगी। वहाँ चाहिए उच्च नीचता, आत्मा धीनता और उसीका नामान्तर स्वाधीनता। जो स्वाधीनता हिन्दू समाजमें है वह पाश्चात्य समाजमें नहीं है। जो स्वाधीनता पाश्चात्य समाजमें है उसका नाम है स्वेच्छाचारिता।

आर्य-साहित्यलोचनाकी आवश्यकता

हम यह नहीं चाहते कि प्रेम और भक्तिसे परिपूर्ण हमारा प्राचीन प्रतिष्ठित हिन्दू समाज उठ जाय और उसके स्थान पर विलायती समाज प्रतिष्ठित हो। इन दोनोंकी सगठनप्रणाली एकदम विपरीत है। दोनोंके प्रेमादर्शके सम्बन्धमें बहुतसे उदाहरण दिये जा चुके है। हमारे साहित्यके प्रेमादर्शमें भक्ति, श्रद्धा आदि उत्कृष्ट प्रवृत्तियोंकी उत्तेजना, स्फूर्ति और धर्मनैतिक शासनकी प्रबलता है, और विलायती आदर्शमें प्राकृतिक शत्रुओंकी प्रधानता है। शत्रु चपल इन्द्रियोंके सुखके अनुकूल हैं और शान्तिसाधक प्रेम, भक्ति, दया, धर्म आदिके प्रतिकूल हैं। इस आदर्शमें धर्मनैतिक शासनकी अधीनता है और उस आदर्शमें स्वार्थपर साम्य-भाव है। इस आदर्शमें स्वाधीनता और उस आदर्शमें स्वेच्छाचारिता है, इसमें एक स्थानमें उन दोनों आदर्शोंका समावेश हो ही नहीं सकता। देशी आदर्शको छोडकर हम जितनाही विदेशी समाज-नीतिका पीछा करेंगे, हमारा समाज उतना और वैसाही सगठित होगा। अन्तमें हिन्दू समाजके बदले विलायती समाज स्थापित

हो जायगा। हम अपने पवित्र और सुसंस्कृत समाजको अनेक दोषोंके आधार विलायती समाजमें डुबा देना नहीं चाहते, देवत्व और मनुष्यत्व खोकर पशुत्वमें पड़ना नहीं चाहते। किस उपायसे हम इस विपत्तिसे उद्धार पावेंगे? हमारे लिये विलायती साहित्यकी आलोचना आवश्यक हो गई है। केवल कमानेके लिये ही उसका पढ़ना आवश्यक नहीं है। उसके बिना पढ़े हम अनेक ज्ञानोंसे वञ्चित रह सकते हैं। किन्तु उस आलोचनाके साथ जिस प्रकार विलायती साहित्यके उद्भूत भावकी नीच प्रवृत्तिकी स्फूर्ति होती है उसका दमन करना आवश्यक है। स्वदेशी साहित्यकी आलोचनामें उसका दबाना सहज हो सकता है। इसलिये अँगरेजी विद्याकी आलोचनाके साथ संस्कृत विद्याकी आलोचना भी आवश्यक है। हमारे घर और परिवारमें विलायती साहित्यका विष जिसमें न पैठे, इसीके लिये सदा सावधान रहना चाहिए। जिस स्वदेशी साहित्यकी आलोचनासे हमारा समाज एक समय अनेक गुणोंसे भूषित होकर विनीत और सुशिक्षित हुआ था, उस साहित्यके अनुशीलन होनेसे ही हिन्दू समाजका यथेष्ट कल्याण होगा। साथही हम लोग भी उस साहित्यकी मधुरता, पवित्रता, संयम, विनय, दैविक सौन्दर्य और महान उपदेशोंको समझ बूझकर उच्छृङ्खल विलायती भावोंको दबावेंगे तथा हिन्दू समाजको विध्वस्त होनेसे बचावेंगे।

साहित्यमें वीरत्व ।

वीरोंका आदर्श

आर्य कविगुरु वाल्मीकिने एक ओर सीताकी सृष्टि करके जिस प्रकार सतीका आदर्श दिखलाया है उसी प्रकार दूसरी ओर रामचन्द्रकी सृष्टि करके आर्य वीरका आदर्श दिखलाया है। सीतामें हम आर्य ललनाका सौन्दर्य, प्रेम, भक्ति और देवत्व देखते हैं और रामचन्द्रमें आर्य सन्तानका गौरव, पौरुष, वीरता और राजश्रीकी दिव्य ज्योति देखते हैं। जिस कुल और जातिमें आर्य सन्तानका जन्म होता है उसीमें उसके कुल-तिलक होने और उसी जातिमें गौरव बढ़ानेसे उसका गौरव होता है। रामचन्द्रमें वही गौरव देख पड़ता है। वे रघुकुल-तिलक और क्षत्रियराज प्रधान हैं। उनका यह गौरव दिखलानेके लिये ही वाल्मीकिने पहले राजा दशरथका चित्र खींचा है। दशरथकी वीरता और राज्यशासन, प्रभुत्व और यश, मन्त्रणा और कौशल, सम्पद् और सुहृदयता, राष्ट्र और दुर्ग, धन और सेनाबल, धर्मपरायणता और तपस्या, विद्या और बुद्धि, सभीका यथार्थ वर्णन करके हमारे सामने खड़ा कर दिया है। अयोध्या राज्यका सुख, सौन्दर्य देखकर हम वि[illegible] हो जाते हैं। हम कि और कोई दूसरा [illegible] नहीं हो स

आकर सबको विदित कराया। ऋषिने ज्ञानबलसे जान लिया था कि रघुकुलमें जिस असामान्य वीरका अवतार हुआ है वह तरुणावस्थामें ही आश्रम-पीडा और तपोविघ्नको दूर करेगा। जब दशरथकी राजसभामें जाकर विश्वामित्रने वीर कार्यके लिये रामचन्द्रकी प्रार्थना की, तब रामका गौरव हमारे हृदयमें उदित हुआ। हमने एक दिव्य नक्षत्रकी उज्ज्वल आभा सहसा देख पाई। ऐसेही नारदके मुखसे श्रीकृष्णका अवतार गौरव भी विदित हुआ था।

विश्वामित्र वीर कार्यके लिये रामचन्द्रको ले गये। रामचन्द्रने भी अपार साहस करके उस कठिन काममें जिस वीरताका परिचय दिया था उसका वर्णन वाल्मीकि कर गये हैं। किन्तु यहीं उस वीरताका अन्त नहीं हुआ। विश्वामित्र उस वीरत्व-विकाशके स्थानसे उन्हें वीरता प्रकाश करनेके एक और स्थानमें ले गये। जनककी स्वयम्बर सभामें बड़े बड़े महावीर महाराज उपस्थित होकर धनुष तोड़नेमें परास्त हो गये थे, उसी कार्यमें रामचन्द्र प्रवृत्त हुए। फिर रामचन्द्रने किस प्रकार अतुल विक्रमके साथ धनुर्भङ्ग करके भारतमें यशोविस्तारके साथ अमानुषिक वीरताका परिचय दिया था, उसे रामायण पढ़नेवाले भली भाँति जानते हैं। किन्तु यह असामान्य वीरता भी कोई बात नहीं है। किन्तु उनकी अलौकिक वीरताके परिचयका उससे भी उज्ज्वल एक अन्य क्षेत्र दिखा दिया। सीताके साथ राम अयोध्या लौट रहे थे। रास्तेमें परशुरामजी मिले*। उन्होंने पृथ्वीको एक प्रकार क्षत्रिय-

* श्रीतुलसीदासकृत रामायण पढ़नेवालोंको आश्चर्य मालूम होगा कि परशु

हीन कर दिया था। अतुलनीय वीर कार्तवीर्यार्जुन जैसा भी उनसे हार गया था। किसी क्षत्रिय वीरके तेजको बिना मन्द किये परशुरामने नहीं छोड़ा था। उसी परशुरामने रामचन्द्रसे द्वन्द्व युद्धकी प्रार्थना की। उन्होंने हरधनुकी अपेक्षा भी एक कठिन धनुष रामचन्द्रको चढ़ानेके लिये दिया। किन्तु जिस रामने शिवधनुका भङ्ग किया था वे वैष्णव धनुका भङ्ग न करें, यह कब हो सकता था? उन्होंने उस धनुको बड़ी वीरताके साथ और बहुतही सहजमें परशुरामके सामने चढ़ा दिया। ऐसी अद्भुत वीरताका परिचय पाकर परशुराम परम प्रसन्न हुए। मनही मन उन्होंने जान लिया कि रामचन्द्र वीरतामें हमसे भी प्रबल हैं। परशुराम युद्ध करनेसे विमुख हुए। उनका घमंड चूर चूर हो गया। रामकी अद्भुत वीरता देखकर प्रफुल्लित चित्तसे दशरथ रामके साथ अयोध्या लौट आये।

वाल्मीकिने रामचन्द्रकी इस प्रकार बालवीरता दिखाकर उनकी जीवनी प्रारम्भ की। जान पड़ता है कि इसी बालवीरताको हीन बनानेके लिये व्यासने श्रीकृष्णकी बाल्यलीला दिखलाई है। कालिदासने रामका गौरव और बढ़ानेके लिये रघुकुलका वर्णन बहुत पहलेसे ही आरम्भ किया है। उन्होंने पहले दिलीपका चरित्र चित्रित किया है। उनके पुत्र रघुने दिलीपके चरित्रको निष्प्रभ बनाकर किस प्रकार कुलगौरव

रामजी रामको रास्तेमें कैसे मिले, पर वाल्मीकीय रामायणादिमें और भट्टि आदि कई काव्योंमें परशुरामके रास्तेमें मिलनेका वर्णन है। तुलसीकृत रामायणमें परशुरामका धनुर्यज्ञ मण्डपमें आनाही वर्णित है। अनु०

बढ़ाया है, इसका चित्रण बहुत ही सुन्दर रूपसे किया गया है। रघु इतने यशस्वी हुए कि उनके नामसे वह वंश प्रसिद्ध हुआ। किन्तु कालिदासने यहीं समाप्त नहीं किया। उन्होंने आगे यह दिखलाया कि रघुकुलमें रामचन्द्रने जन्म लेकर उस कुलको सर्वश्रेष्ठ और अधिक गौरवपूर्ण बना दिया। इसीसे रामचन्द्रने रघुकुल तिलक कहलाकर सभीका यश मिटा डाला। रघुकुल रामयशसे गौरवान्वित हुआ।

पृथ्वीका अन्य देशीय कोई राजवंश इस प्रकार धारावाहिक क्रमसे उत्तरोत्तर उत्कर्ष लाभ करता गया हो, ऐसा वृत्तान्त हम किसी जातिके इतिहासमें नहीं पाते। दिलीपके बाद रघु, रघुके बाद अज, अजके बाद दशरथ और दशरथके बाद रामचन्द्रसे राजकुल अन्तिम सीमाको पहुँच गया। कुश, अतिथि, सुदर्शन आदि बादके जितने राज हुए हैं उन्होंनें रामचन्द्रकी ही श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है। रामचन्द्र सभीसे बढे हुए हैं, उनसे बढा चढा और कोई नहीं हो सका। कालिदासके द्वारा रामचन्द्रका ही गौरव प्रतिष्ठित हुआ है। आर्य साहित्यमें इसी प्रकार राजाओंका इतिहास मिलता है। सर वाल्टर स्कॉट स्कॉटलैण्ड और इग्लैंडके सीमान्तप्रदेशीय राजाओंकी रक्त-रंजित वीरताके यशोगानमें रोमाञ्चपूर्ण होते थे, और आर्य कवि इस प्रकारके वीर राजाओंके यशोगानमें आनन्दमुग्ध होते थे।

रामका अपरिसीम भुजबल और क्षात्रिय तेज दिखाकर वाल्मीकिने रामचन्द्रकी अन्य प्रकारकी वीरता भी दिखलाई है। भुजबल प्रकट करनेमें और राक्षसों तथा दैत्योंका विजय

सूक्ष्म रूपसे दिखलाया गया है वही पौराणिक काव्योंमें स्थूल रूपसे दिखलाया गया है। क्योंकि जिसकी कल्पना स्थूल रूपसे होती है, जो प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है, उसका संस्कार हृदयमें अधिकतर होता है। इससे महाभारतने साकार कल्पना करके दिखलाया कि राजर्षि नहुष रिपुओंके वशमें होनेके कारण स्वर्गसे भ्रष्ट होकर सर्प योनिमें पैदा हुए। वे स्वर्गमें जाकर इन्द्राणीको देखते ही कामान्ध हुए। उन्होंने अहङ्कारी होकर ऋषियोंको वाहक बनाया और अगस्तके शापसे ऐसा दण्ड भोगा।

मनुष्योंके ये शत्रु कितने प्रवल हो सकते हैं, प्रवल हो कर कहाँ तक नीचताके गड्ढेमें ढकेल सकते हैं, यह यूरोपीय वियोगान्त नाटकोंमें, और विशेषत ऐतिहासिक वीरोंमें दिखलाई पडता है। "साहित्यका आदर्श" नामके प्रस्तावमें हमने वियोगान्त नाटकोंकी प्रकृतिका वर्णन किया है। वहाँ यह दिखलाया गया है कि वियोगान्त नाटकके प्रधान प्रधान पुरुष और स्त्री-चरित्रमें रिपुकी कैसी प्रवलता होती है। उस शत्रुके वशवर्ती बनकर मनुष्यकी जो उन्मत्तता होती है उसके प्रभावसे नररूपी असुर कितने अकार्य साधन कर सकते हैं, यह वियोगान्त नाटकोंमें खूब प्रत्यक्ष देख पडता है। यूरोपमें ट्रेजेडीका गौरव बढाकर उसके पात्रोंका भी गौरव बढाया गया है। वे प्रधान पात्र वीर रूपसे लोगोंके मनमें बैठे हुए हैं। जो ... सदा वर्तमान रहते हैं वे कल्पनाके मित्र हो जाते ... । जो मानस क्षेत्रमें सदा अवतीर्ण रहा ... घृणा नहीं होती। वह ...

करनेमें जो क्षत्रिय वीरता प्रकट होती है वह बाह्य वीरता है। इस वीरतामें पृथ्वीके अनेक दिग्विजयी वीर यशस्वी हुए हैं। किन्तु जिस वीरतामें भारतको छोड़कर समस्त पृथ्वीके वीर रामचन्द्रके निकट परास्त हैं, रामकी उस आभ्यन्तारिक वीरता-को वाल्मीकिने अबतक नहीं दिखलाया। हम इन दोनों प्रकारकी वीरताओंकी आलोचना करते हैं।

आसुरिक वीरता

आर्य साहित्यमें प्रकृत मनुष्यत्व क्या है, यह दिखलाया जा चुका है। मनुष्य जहाँ पशुकी समतामें आ जाता है वहाँ उसकी श्रेष्ठता नहीं कही जाती। मनुष्य जहाँ पशुसे भिन्न दिखलाई पड़ता है वहीं उसका मनुष्यत्व है। पशु जिस प्रकार इन्द्रिय और काम, क्रोध आदि रिपुओंके वशीभूत होता है, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी उनके वशीभूत होकर पागल हो जाय तो वह भी पशु ही समझा जाता है। किन्तु यदि वह उन इन्द्रियों तथा सारे रिपुओंपर विजयी हो जाय तो उसको मनुष्य कहेंगे। महाभारतमें लिखा है—

"कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वित ।

सूक्ष्म रूपसे दिखलाया गया है वही पौराणिक काव्योंमें स्थूल रूपसे दिखलाया गया है। क्योंकि जिसकी कल्पना स्थूल रूपसे होती है, जो प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है, उसका संस्कार हृदयमें अधिकतर होता है। इससे महाभारतने साकार कल्पना करके दिखलाया कि राजर्षि नहुष रिपुओंके वशमें होनेके कारण स्वर्गसे भ्रष्ट होकर सर्प योनिमें पैदा हुए। वे स्वर्गमें जाकर इन्द्राणीको देखते ही कामान्ध हुए। उन्होंने अहङ्कारी होकर ऋषियोंको वाहक बनाया और अगस्तके शापसे ऐसा दण्ड भोगा।

मनुष्योंके ये शत्रु कितने प्रबल हो सकते हैं, प्रबल हो कर कहाँ तक नीचताके गड्ढेमें ढकेल सकते हैं, यह यूरोपीय वियोगान्त नाटकोंमें, और विशेषत ऐतिहासिक वीरोंमें दिखलाई पडता है। "साहित्यका आदर्श" नामके प्रस्तावमें हमने वियोगान्त नाटकोंकी प्रकृतिका वर्णन किया है। वहाँ यह दिखलाया गया है कि वियोगान्त नाटकके प्रधान प्रधान पुरुष और स्त्री-चरित्रमें रिपुकी कैसी प्रबलता होती है। उस शत्रुके वशवर्ती बनकर मनुष्यकी जो उन्मत्तता होती है उसके प्रभावसे नररूपी असुर कितने अकार्य साधन कर सकते हैं, यह वियोगान्त नाटकोंमें खूब प्रत्यक्ष देख पड़ता है। यूरोपमें ट्रेजेडीका गौरव बढ़ाकर उसके पात्रोंका भी गौरव बढाया गया है। वे प्रधान पात्र वीर रूपसे लोगोंके मनमें बैठे हुए हैं। जो कल्पनामें सदा वर्तमान रहते हैं वे कल्पनाके मित्र हो जाते हैं। जो मानस क्षेत्रमें सदा अवतीर्ण रहा करता है उससे प्राय घृणा नहीं होती। वह क्रमश गौरवान्वित होकर वीर

करनेमें जो क्षत्रिय वीरता प्रकट होती है वह बाह्य वीरता है। इस वीरतामें पृथ्वीके अनेक दिग्विजयी वीर यशस्वी हुए हैं। किन्तु जिस वीरतामें भारतको छोड़कर समस्त पृथ्वीके वीर रामचन्द्रके निकट परास्त हैं, रामकी उस आभ्यन्तरिक वीरता-को वाल्मीकिने अबतक नहीं दिखलाया। हम इन दोनों प्रकारकी वीरताओंकी आलोचना करते हैं।

आसुरिक वीरता

आर्य साहित्यमें प्रकृत मनुष्यत्व क्या है, यह दिखलाया जा चुका है। मनुष्य जहाँ पशुकी समतामें आ जाता है वहाँ उसकी श्रेष्ठता नहीं कही जाती। मनुष्य जहाँ पशुसे भिन्न दिखलाई पड़ता है वहीं उसका मनुष्यत्व है। पशु जिस प्रकार इन्द्रिय और काम, क्रोध आदि रिपुओंके वशीभूत होता है, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी उनके वशीभूत होकर पागल हो जाय तो वह भी पशु ही समझा जाता है। किन्तु यदि वह उन इन्द्रियों तथा सारे रिपुओंपर विजयी हो जाय तो उसको मनुष्य कहेंगे। महाभारतमें लिखा है—

"कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वित।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्ट-स्तिर्यग्योनौ प्रसूयेत॥
तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते।

"काम, क्रोध, लोभ और हिंसासे युक्त मनुष्य मनुष्यत्वसे अलग होकर तिर्यग्योनिमें जन्म ग्रहण करता है। तिर्यग्योनिसे छुटकारा पानेपर वह मनुष्य-जन्म पाता है।"

नहुष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वेदमें जो विषय

लोभ निवारित, तेज संहृत और प्रभुत्व तथा प्रताप नष्ट कर दिये गये हैं। कृष्ण और राम आदि देवांश-धारियोंने उन्हें नीचा दिखला दिया है। देवताके न होनेसे देवताका नाश सम्भव नहीं। मनुष्योंकी रिपुप्रबलतासे पशुत्वके जो आसुरिक देवता उत्पन्न होते हैं उन देवताओंको देव वीर ही नष्ट कर डालते हैं।

ट्रेजेडी और यूरोपीय इतिहासके जो वीर हैं और आर्य साहित्यके जो असुर हैं वे एक-जातीय वीर हैं। उनके शत्रु बड़े प्रबल हैं। इसी लिये उस प्रकारके एक वीरका इतिहास लिखनेसे ही जातिके समस्त वीरोंका इतिहास लिखा जायगा। आर्य कवियोंने उन समस्त वीरोंको एककर उनके एक आदर्श वीरकी सृष्टि की है। व्यासके दुर्योधनमें ही यूरोपीय अनेक वीरोंका चित्र चित्रित है। इसी प्रकार रामायणका रावण है। भोगवासना बढ़कर मनुष्यको किस प्रकार अपने चंगुलमें फँसा लेती है, मनुष्य किस प्रकार लोभके वशवर्ती होकर दूसरेको सूईकी नोकके बराबर भी भूमि देनेके लिये तैयार नहीं होता, इसीकी प्रतिमा दुर्योधन है। फिर इन्द्रिय-लालसा और काम बढ़कर किस प्रकार मनुष्यको नाशके पथमें ले जाते हैं, इसीका मूर्तिमान चित्र रावण है। ऐसे असुर वीरोंके आदर्श चरित्र आर्य साहित्यमें चित्रित किये गये हैं। किन्तु चित्रकार उतनाही लिखकर स्थिर नहीं हुए, क्योंकि यदि वे उतनाही लिखकर शान्त हो जाते तो उन वीरोंके चरित्र पढ़नेसे बड़ा भारी कुफल फलता। इसी प्रकार के समस्त पार्थिव वीरोंके चरित्र लिखना भी उन्होंने

सा भासने लगता है। लेडी मैकवेथ लोभमें वीर रमणी है, कामद्वेषमें उथेलो वीर है, कौशलमें यागो है। ट्रेजेडीमें इसी प्रकारकी वीरताकी प्रतिष्ठा है।

यूरोपीय ट्रेजेडीमें जिस वीरताकी प्रतिष्ठा है, इतिहासमें भी उसी वीरताका गौरव है। कामनाकी प्रबल पिपासासे परतन्त्र होकर, लोभकी सर्वग्रासिनी लालसाके वशवर्ती बनकर, अहङ्कारसे पृथ्वीको तुच्छ समझकर और घोर उन्मत्ततामें फँसकर जिन रणप्रिय, विजयोल्लासी नररूपी दानवोंने पृथ्वीको रक्तसे डुबाकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया है वे ही यूरोपीय इतिहासमें विख्यात वीर समझे जाते हैं और सबके आदरणीय बनते हैं। इसी प्रकारके वीर अलेक्जेन्डर, जूलियस सीजर, नेपोलियन, हनीबाल आदि हैं। वे ट्रेजेडीके वीरोंकी जीवन प्रतिमा हैं। इन सबने समय समय पर पृथ्वीमें तहलका मचा दिया था। पृथ्वीपर चारों ओर रक्त गङ्गा बहाकर महावीरता की प्रसिद्धि पाई थी। आर्य साहित्यके असुरोंने भी समय समय पर अवतीर्ण होकर काम, क्रोधादिकी मूर्ति धारण करते हुए पृथ्वी पर प्रतिष्ठा पाई थी। यह प्रतिष्ठा वैसी ही है जैसी यूरोपीय ऐतिहासिक वीरों और ट्रेजेडीके पात्रोंकी है। इसीसे आर्य साहित्यमें देखा जाता है कि ये असुर समय समय पर स्वर्गमें भी प्रभुत्वका विस्तार कर देवताओंकी प्रतिष्ठा पा चुके थे। किन्तु यूरोपीय इतिहास और आर्य साहित्यमें बहुत विभेद पाया जाता है। यूरोपीय इतिहास और ट्रेजेडीमें वे वीर सदाके लिये प्रतिष्ठित और देवोपम हो चुके हैं। आर्य साहित्यमें उन वीरोंके विक्रम और दर्प चूर्ण, उनके गर्व खर्व,

ब्राह्मण और क्षत्रिय वीरत्व

विना युद्धके पुरुषत्वकी प्रतिष्ठा और विजय नहीं होती,
और विना विजयी हुए वीरताका विकास नहीं होता। युवा-
वस्थामें जब मानसिक शत्रुओंका घोर उत्पात उठ खडा होता
था तब जितेन्द्रिय और आत्मसयमी आर्य उन शत्रुओंपर
सग्राममें तपोबलसे एकनिष्ठ और एकचित्त होकर विजयी
होते थे और उस विजयसे उनकी आभ्यान्तरिक वीरता
प्रकट होती थी। तपस्यासे इस प्रकार जय लाभकर वे ब्राह्मण
वीरता दिखाते हुए देवत्व लाभ करते थे। वेदाध्ययन, दम,
आर्जव इन्द्रियनिग्रह, और सत्य ये ही ब्राह्मणके नित्य धर्म
थे। साम वेदमें अन्तर्यज्ञका अनुष्ठान करते हुए नारायणके
उद्देश्यसे पशुरूप शत्रुओंके बलिदानकी व्यवस्था की गई है।
इसी प्रकारके अन्तर्याग और आभ्यन्तरिक समरमें विजयी
बननेसे ब्राह्मणकी वीरता प्रकट होती थी। कहाँ तो रामचन्द्र
राजमुकुट धारण करनेवाले थे और कहाँ आज्ञा हुई कि वन-
वास करो। राजैश्वर्य और राजभोगसे रामचन्द्र इतने निस्पृह
थे कि तत्क्षण दण्डधारी और ब्रह्मचारी बनकर वन चले गये।
उन्होंने चौदह वर्ष एकनिष्ठ ब्रह्मचारी बनकर ब्राह्मण वीरत्वका
चूडान्त परिचय दिया था। यौवनका कोई शत्रु, कोई सुख
भोग उन्हें एक दिनके लिये भी विचलित न कर सका।
ब्रह्मचर्य देखना को देखिये। और विक्रममें
अद्वितीय वन सयमी व्रतका
पालन किया। अमानु-
षिक सयम- दर्णोप

श्यक नहीं समझा । क्योंकि सर्वदा पापचित्र देखनेसे कल्पना भी दूषित हो जाती है । इसी लिये आर्य कवियोंने उस प्रकारकी आसुरिक वीरताका चित्र खींचकर काव्यमें एक ओर रक्खा है और दूसरी ओर दूसरे प्रकारके वीरोंका उज्ज्वल चित्र खींच रक्खा है । धर्मवीरोंके उज्ज्वल चित्रोंने पशुवीरोंको अन्धकार-में दबा रक्खा है । इसका फल यह होता है कि कल्पना धर्म-भावसे ही परिपूर्ण रहा करती है । इसीसे ये काव्य वीर एक प्रकारके ऐतिहासिक चित्र हैं । महाभारतमें केवल दुर्योधनका चरित्र पढिये तो आपको यूरोपीय वीरोंके इतिहास पढनेका ही फल होगा । पर साथही समस्त रामायण और महाभारत पढ जाइये तो आपकी कल्पना कभी दूषित नहीं होगी ।

शार्लमेन, अलेक्ज़ेडर, जूलियस सीजर, नेपोलियन, फ्रैडरिक, हानीबाल, पञ्चम चार्लस, तैमूर, महमूद गजनवी आदि दिग्विजयी वीर थे । आर्य साहित्यमेंभी दिग्विजयी वीर हैं । रघु, रामचन्द्र, पाण्डव, कर्ण आदि वीरोंका दिग्विजय क्या है ? ये दिग्विजय केवल यज्ञपूर्तिके लिये ही हुए थे । रघुका दिग्विजय विश्वजित् यज्ञके लिये और रामचन्द्र आदि का अश्वमेधके लिये था । पाण्डवोंके दिग्विजय राजसूय, अश्वमेध यज्ञोंके लिये और कर्णके दिग्विजय दुर्योधनके राजसूय यज्ञके लिये थे । उन्होंने केवल लोभमें पडकर पृथ्वीपर रक्तगङ्गा नहीं बहाई थी । ये दिग्विजय केवल यज्ञमें दान देनेके निमित्त धन-संग्रह करनेके लिये ही हुए थे । पारमार्थिक उद्देश्यके लिये जो संग्रह होता है वह उतना निन्दनीय नहीं है ।

ाह्मण और क्षत्रिय वीरत्व

बिना युद्धके पुरुषत्वकी प्रतिष्ठा और विजय नहीं होती, और बिना विजयी हुए वीरताका विकास नहीं होता । युवावस्थामें जब मानसिक शत्रुओंका घोर उत्पात उठ खडा होता था तब जितेन्द्रिय और आत्मसंयमी आर्य उन शत्रुओंपर संग्राममें तपोबलसे एकनिष्ठ और एकचित्त होकर विजयी होते थे और उस विजयसे उनकी आभ्यान्तरिक वीरता प्रकट होती थी । तपस्यासे इस प्रकार जय लाभकर वे ब्राह्मण वीरता दिखाते हुए देवत्व लाभ करते थे । वेदाध्ययन, दम, आर्जव इन्द्रियनिग्रह, और सत्य ये ही ब्राह्मणके नित्य धर्म थे । साम वेदमें अन्तर्यज्ञका अनुष्ठान करते हुए नारायणके उद्देश्यसे पशुरूप शत्रुओंके बलिदानकी व्यवस्था की गई है । इसी प्रकारके अन्तर्याग और आभ्यन्तरिक समरमें विजयी बननेसे ब्राह्मणकी वीरता प्रकट होती थी । कहाँ तो रामचन्द्र राजमुकुट धारण करनेवाले थे और कहाँ आज्ञा हुई कि वनवास करो ! राजैश्वर्य और राजभोगसे रामचन्द्र इतने निस्पृह थे कि तत्क्षण दण्डधारी और ब्रह्मचारी बनकर वन चले गये । उन्होंने चौदह वर्ष एकनिष्ठ ब्रह्मचारी बनकर ब्राह्मण वीरत्वका चूडान्त परिचय दिया था । यौवनका कोई शत्रु, कोई सुख भोग उन्हें एक दिनके लिये भी विचलित न कर सका । ब्रह्मचर्य देखना हो तो भीष्मको देखिये । बल और विक्रममें अद्वितीय भीष्मदेवने यावज्जीवन संयमी होकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन [illegible] ब्रह्मचर्य व्रतमें अमानु- [illegible] है हजारों ब्राह्मणोंका [illegible] पड़ता [illegible]

षिक

श्यक नहीं समझा। क्योंकि सर्वदा पापचित्र देखनेसे कल्पना भी दूषित हो जाती है। इसी लिये आर्य कवियोंने उस प्रकारकी आसुरिक वीरताका चित्र खींचकर काव्यमें एक ओर रक्खा है और दूसरी ओर दूसरे प्रकारके वीरोंका उज्ज्वल चित्र खींच रक्खा है। धर्मवीरोंके उज्ज्वल चित्रोंने पशुवीरोंको अन्धकार में दबा रक्खा है। इसका फल यह होता है कि कल्पना धर्म-भावसे ही परिपूर्ण रहा करती है। इसीसे ये काव्य वीर एक प्रकारके ऐतिहासिक चित्र हैं। महाभारतमें केवल दुर्योधनका चरित्र पढिये तो आपको यूरोपीय वीरोंके इतिहास पढनेका ही फल होगा। पर साथही समस्त रामायण और महाभारत पढ़ जाइये तो आपकी कल्पना कभी दूषित नहीं होगी।

शार्लेमेन, अलेक्जेंडर, जूलियस सीजर, नेपोलियन, फ्रैडरिक, हानीबाल, पञ्चम चार्ल्स, तैमूर, महमूद गजनवी आदि दिग्विजयी वीर थे। आर्य साहित्यमेंभी दिग्विजयी वीर हैं। रघु, रामचन्द्र, पाण्डव, कर्ण आदि वीरोंका दिग्विजय क्या है? ये दिग्विजय केवल यज्ञपूर्तिके लिये ही हुए थे। रघुका दिग्विजय विश्वजित् यज्ञके लिये और रामचन्द्र आदि का अश्वमेधके लिये था। पाण्डवोंके दिग्विजय राजसूय, अश्वमेध यज्ञोंके लिये और कर्णके दिग्विजय दुर्योधनके राजसूय यज्ञके लिये थे। उन्होंने केवल लोभमें पड़कर पृथ्वीपर रक्तगङ्गा नहीं बहाई थी। ये दिग्विजय केवल यज्ञमें दान देनेके निमित्त धन सग्रह करनेके लिये ही हुए थे। पारमार्थिक उद्देश्यके लिये जो सग्रह होता है वह उतना निन्दनीय नहीं है।

प्रतिष्ठा की थी। आज भी संसार उनके पौरुष और वीरताका यशोगान कर रहा है।

रामचन्द्रमें हम ब्राह्मण और क्षत्रियकी वीरता साथही साथ देखते हैं। रामकी शिक्षा, विद्या और तपस्याने ही उन्हें दोनों प्रकारकी वीरताओंसे विभूषित किया था। वे जैसे धीर, शान्त-प्रकृति, स्थिरचित्त और विशाबुद्धि सम्पन्न थे, वैसे ही उद्योगी, साहसी, कर्मठ और वीर थे। उन्होंने पितामें जो धर्मपरायणता और सत्यता देखी थी और वशिष्ठ आदि ऋषि उन्हें संयमकी जो शिक्षा देते थे, उन्होंने उसी दृष्टान्त और शिक्षासे विनीत होकर ब्राह्मण वीरताकी योग्यता प्राप्त की थी। असीम बल विक्रम होने और धनुर्विद्या जाननेके कारण वे क्षत्रिय वीरोंमें प्रधान हुए थे। प्राचीन कालमें आर्य क्षत्रिय राजवंशमें दोनों ही प्रकारकी शिक्षा दी जाती थी। इसीसे आर्य साहित्यमें केवल रामचन्द्र ही नहीं, अनेक राजर्षि विद्यमान हैं। तपोधनी नारदने सञ्जयको पुत्र शोकसे कातर देखकर उन राजर्षियोंके चरित्रका वर्णन किया था।

जैसे बहुतसे क्षत्रिय राजा ब्राह्मण वीरतामें कृतकार्य होकर राजर्षि कहलाते थे, वैसे ही परशुराम, द्रोण ऐसे बहुतसे ब्राह्मण क्षत्रिय वीर्य धारणकर यशस्वी वीर हुए थे। भीष्मने कहा था कि महाराज मुचुकुन्द ब्राह्मणके मन्त्र और तपोबल तथा क्षत्रियके अस्त्र और भुजबलको एक साथ रखकर प्रजापालन करते हैं। महर्षि वशिष्ठके ब्रह्मबलका अवलम्बन करके वे अपने बाहुबलसे निर्जित वसुन्धराका शासन करते थे। वस्तुत उस समय भारतमें जो हिन्दू राजा राजछत्र धारण

जो ब्रह्मचर्य शास्त्रोंमें लिखा हुआ है वह बहुतसे क्षत्रिय वीरोंमें भी देखा जाता है। पुरुष ही तक नहीं, बहुतसी हिन्दू बाल-विधवाएँ भी ब्रह्मचर्यावलम्बनपूर्वक महाश्वेताके समान भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर चुकी हैं। यही संयमबल पुरुषत्व और हिन्दू ललनाओंकी महाशक्ति है। रामचन्द्र अपने पौरुष और क्षत्रिय वीर्यको जानते थे, इसीसे वे सीताके साथ बहुत दिनोंतक वनवास करनेमें समर्थ हुए थे। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करनेमें जो धैर्य, संयम और सहिष्णुता आवश्यक है उसके होने और सीताकी रक्षा करनेमें समर्थ होनेके कारण ही वे वनमें जानेको उद्यत हुए थे। इसी वनवाससे आभ्यन्तरिक बल और क्षत्रिय वीर्यका परिचय मिला था।

रामचन्द्रमें केवल ब्राह्मणत्वका ही विकाश नहीं था। वे क्षत्रिय वीरतामें भी प्रधान थे। आभ्यन्तरिक शत्रुओंका शासन और दमन करनेमें जैसे ब्राह्मण वीरत्व है वैसे ही बाह्य शत्रुओंके शासन और दमनमें क्षत्रिय वीरत्व है। जब मानसिक शत्रु प्रबल मूर्ति धारण कर रावण और दुर्योधन आदिके रूपमें प्रकट होते हैं और पृथ्वीको पीड़ित कर उस-पर भार डालते हैं तब उन्हें समरमें परास्त कर विजयी बनना क्षत्रिय वीरत्व है। शत्रुओंके साथ युद्ध करना पार्थिवोंका बाहरी समर है। आर्य कवियोंने इसी प्रकारके समरका विस्तृत वर्णन रामायण और महाभारतमें किया है। रामचन्द्र ने अपने पुरुषत्वकी रक्षा और भूभार हरनेके लिये रावणके साथ घोर युद्ध किया था और उस युद्धमें विजयी होकर रावणका वध किया था। इस प्रकार उन्होंने अपने पुरुषत्वकी

है। काव्य कल्पनाके ऐसे ऐन्द्रजालिक प्रभावका अनुभव यूरोपीय कवि नहीं कर सकते। आर्य चरित्रमें धर्मतेज कितना उच्च हो सकता है, आर्य वीरता किस सीमातक पहुँच सकती है, इसकी कल्पना तक विलायती कवि नहीं कर सकते। इसीसे शेक्सपियर उत्तम दृष्टान्त पाकर भी इतनी महत्ताको नहीं पहुँच सके। इसीसे ब्याज रूपी शाइलाकने सेरभर मांस माँगा तो कवि रक्तपात नहीं करा सके। ऐसा क्यों नहीं किया? क्योंकि प्रारम्भमें वे काव्य कल्पनामें धर्मरागका समावेश नहीं करा सके। उन्होंने जो कल्पना की थी उसमें मांस काटा जाता तो भी आत्मबलि नहीं होता। इसीसे उन्होंने पोर्शियाको दूसरे रूपमें उपस्थित किया और रागरहस्य करके रसपूर्ण काव्य कल्पनाकी समाप्ति की।

रक्तपात देखना हो तो परशुरामकी मातृहत्याम देखिये। वे मातृहत्यामें क्यों प्रवृत्त हुए? पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये। आर्य शास्त्रमें दो प्रकारका कर्तव्यादेश है—एक शास्त्रादेश और दूसरा गुरुजनादेश। जबतक शास्त्रज्ञानमें पैठ न हो तबतक गुरुजनोंका आदेश ही कर्तव्य समझना चाहिए। पिता-माताकी आज्ञाका अवश्य पालन करना चाहिए। परशुरामने ऐसा ही किया था। दाशरथि राम और पाण्डवोंने भी उसका पालन किया था। उसी पित्रादेशका महत्व दिखलानेके लिये परशुरामने मातृहत्या तक कर डाली। वे ब्राह्मण तेजके अवतार थे। जैसे परशुराम ब्राह्मण तेजके अवतार थे, वैसे राम क्षत्रिय तेजके अवतार थे। ब्राह्मण तेजकी वीरता आभ्यन्तरिक समरमें है और क्षत्रिय वीर्यकी प्रधानता

करता था उसे दोनों प्रकारके बलसे बली होना पड़ता था। सनत्कुमारने कहा था कि जैसे अग्नि और पवनका संयोग होनेसे सारा वन जल जाता है वैसे ही यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर मिल जायँ तो सारे शत्रु नष्ट हो जायँ। रामचन्द्रमें यही राजादर्श दिखाया गया है। क्या यूरोपमें ऐसा आदर्श है? रोमके किसी राजाने सिंहासन छोड़कर सरल जीवन बिताया था, पर रामचन्द्रके समान राज्याभिषेक होनेके समय नहीं। रामके संयम और तपोबलके साथ उसकी तुलना हो ही नहीं सकती।

वीरतामें समर और रक्तपात।

ब्राह्मण वीरता, क्षत्रिय वीरता या आसुरिक वीरतामें, वीरताके अधिकांश स्थानोंमें, रक्तपात अवश्य है। ब्राह्मण वीरता पानेके लिये कर्तव्यने किसी किसी स्थानपर बड़ा भारी संग्राम खड़ा कर दिया है और उसमें रक्तपात भी हुआ है। तपस्यामें कर्तव्य बुद्धिका बल और विक्रम देखा जाता है। इसी कर्तव्य पालनमें तत्पर होकर शिविने बाजके मुखसे कबूतरको बचानेका उपाय किया था। उनका तपोबल, कर्तव्य-बुद्धि और धर्मतेज कितना प्रबल था, यह इस कथामें विशद भावसे वर्णित है। जब हम शिविका चरित्र पढ़ते हैं तब हम यह नहीं सोचते कि यह झूठा है या सचा, केवल उनकी आत्मबलि, तपस्या, कर्तव्य-बुद्धि और धर्म बल ही देखते हैं। इसीसे हमारी कल्पना पूर्ण हो जाती है, विचारशक्ति भूल जाती है। उस कल्पनामें शिविचरित्रके धर्म तेजका महत्त्व सदा जाग्रत रहता

ब्रूटस कहता है कि जो रक्तपात धर्मार्थ होता है वह आव-
श्यक है क्योंकि वह विद्वेषकृत नहीं है। इसका प्रशस्त दृष्टान्त
कुरुक्षेत्रका महायुद्ध है। पीछे अनावश्यक रक्तपात होगा, इस
लिये क्या पाण्डव, क्या भीष्मादि कौरव, दोनोंने ही बहुत
चेष्टा की थी, किन्तु सब कुछ विफल हो गया। बिना युद्धके
दुर्योधन सूईकी नाकके बराबर भी जमीन देनेको राजी न हुआ।
अन्तमें युद्ध आवश्यक हुआ।

कुरुक्षेत्रमें युद्ध हुआ था। किन्तु शेक्सपियरके नाटकमें
युद्ध हुआ था या सीजरको मारना अत्यावश्यक हुआ था ?
जब उसके मारनेके लिये कैसियस प्रभृति कितने ही लोगोंने
मन्त्रणा की थी और दृढप्रतिज्ञ हुए थे तब वे पहले
किस प्रवृत्तिसे उत्तेजित हुए थे ? ब्रूटसने ही कहा था कि
हमारे कार्यमें क्रोध और हिंसाका भाव नहीं रहना
चाहिए। इसीसे उसने उसपर धर्मका परदा डाल-
कर क्रोध और हिंसाको छिपाना चाहा था। उसने कहा—
लोग यह समझें कि हमने सीजरको धर्मार्थ बलि दिया है, उनकी
हत्या नहीं की है। स्वदेशके हितके लिये ब्रूटसकी प्रवृत्तिको
उत्तेजित किया जाय, किन्तु कैसियसका उद्योग कैसा था ? कैसि-
यस आदि प्रधान व्यक्तियोंने हिंसा और लोभके वशवर्ती होकर
जब पहले सकल्प किया था, ब्रूटस उस समय कहाँ था ?
कैसियसने समझ लिया था कि ब्रूटस चाहे जैसे हम लोगोंका
साथ दे, उससे कुछ होता जाता नहीं, सीजर तो मारा जायगा
न ! कापुरुषके समान उन्होंने कसाई बनकर सीजरका खून
कर डाला। इस प्रकार हत्या न करके किस प्रकार स्वदेशके

बाह्य समरमें है । इसीसे परशुराम बाहरी समरमें रामचन्द्रसे विना युद्धके ही परास्त हो गये ।

धर्मार्थ बलि

आर्य साहित्यमें व्यर्थका रक्तपात नहीं है। समस्त रक्तपात धर्मार्थ ही है। जो रक्तपात धर्मार्थ होता है वह देवकार्यके लिये ही होता है, इसीसे उसका नाम बलि है। इस बलिदान की पवित्रता शेक्सपियर तक समझते थे। उन्होंने ब्रूटसके मुखसे वह व्यक्त किया है। सीजरको मारनेके लिये लोभी कैसियस प्रभृति बड़े बड़े रोमन वीर दलबद्ध हुए थे। उन्होंने ब्रूटसको अपने दलमें मिला लिया। ब्रूटस उनकी मन्त्रणामें धर्मबलिके इस पवित्र भावका आरोप करता है—

"Our course will seem too bloody, Caius Cassius,
To cut the head off, and then hack the limbs,
Like wrath in death, and envy afterwards
For Antony is but a limb of Cæsar,
Let us be sacrificers, but no butchers Caius
We will stand up against the spirit of Cæsar,
And in the spirit of men there is no blood

* * * *

Let us carve him as a dish fit for the Gods,
Not hew him as a carcass fit for hounds

* * * This shall make

Our purpose necessary, and not envious
Which so appearing to the common eyes,
We shall be called purgerers, not murderers."*

* इसका भावार्थ आगेके वर्णनसे ही स्पष्ट हो गया है। —अनुवादक

न हो, यूरोपमें वह क्रमश किस प्रकार दूषित हुआ था, यह पहले प्रस्तावमें दिखाया जा चुका है।

वीरका प्रतिज्ञा बल

आर्य अपनी धर्मरक्षाके लिये जिसे कर्तव्य समझते थे, दृढ़प्रतिज्ञ होकर उस संकल्पकी सिद्धि करते थे। मनुष्यत्वका इस प्रकार निदर्शन ब्राह्मण और क्षत्रियके प्रतिज्ञा-बलसे होता था। आर्य साहित्यमें ऐसे मनुष्यत्वके कार्यके अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं। प्रतिज्ञापालन ही मनुष्यका मनुष्यत्व और वीरों का वीरत्व है। ब्राह्मण कर्तव्यपालनमें कभी पराङ्मुख नहीं होते थे। परशुराम पितृभक्तिसे प्रेरित होकर पितृवधके प्रतिशोधके लिये जिस प्रतिज्ञा पाशमें बँधे हुए थे, उस प्रतिज्ञाका पालन कर क्षत्रिय रुधिरसे उन्होंने पिताका तर्पण किया था। हम ब्राह्मणके प्रतिज्ञाबलका महातेज परशुराममें पाते हैं। प्रतिज्ञा करनेसे क्या नहीं होता ? सीताके उद्धारके लिये रामचन्द्रने प्रतिज्ञा कर कौनसा असाध्य साधन नहीं किया था ? भीष्मने पिताके सन्तोषके वास्ते दृढ़प्रतिज्ञ-होकर सदाके [illegible] और राजसिंहासन छोड़कर ब्रह्मचर्यका पालन

हितसाधन होगा, ब्रूटसने एक क्षण भी इसपर विचार नहीं किया था। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सीजरकी हत्याके विना काम नहीं चल सकता था और उसकी हत्या व्यर्थ नहीं हुई थी ?

यहीं पर ग्रीक ट्रेजेडीकी उत्पत्तिके कारणका सूत्रपात होता है। धर्मार्थ बलिके आधार पर ग्रीक ट्रेजेडीकी उत्पत्ति हुई। एसकाइलस और यूरिपाइडिसकी कुछ ट्रेजेडियाँ इसी ढंगकी है। वे समझते थे कि धर्मार्थ बलि देनेसे धर्मका गौरव होगा। आर्य साहित्यमें भी धर्मार्थ बलि न हो, ऐसी बात नहीं है। कर्ण और शिवि अतिथि सत्कारके लिये अपने पुत्रका बलि देनेमें भी कातर नहीं हुए थे। राजा मयूरध्वजने अतिथि सत्कारके लिये अपना दाहिना अङ्ग काट डाला था। हमारे पौराणिक साहित्यके इस प्रकारके रक्तपात और धर्मबलि मायिक व्यापार मात्र समझे जाते हैं। इनमें दिये हुए धर्मबलिके व्यक्तियोका पुनर्जीवन हुआ था। पौराणिकोंने एक समय धर्मके गौरव और भगवान्‌के प्रति भक्तिकी वृद्धि होनेके लिये इस प्रकारके अलौकिक व्यापारोंका उद्भावन किया था। इनके द्वारा

न हो, यूरोपमें वह क्रमश किस प्रकार दूषित हुआ था, यह पहले प्रस्तावमें दिखाया जा चुका है।

वीरका प्रतिज्ञा बल

आर्य अपनी धर्मरक्षाके लिये जिसे कर्तव्य समझते थे, दृढ़प्रतिज्ञ होकर उस सकल्पकी सिद्धि करते थे। मनुष्यत्वका इस प्रकार निदर्शन ब्राह्मण और क्षत्रियके प्रतिज्ञा-बलसे होता था। आर्य साहित्यमें ऐसे मनुष्यत्वके कार्यके अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं। प्रतिज्ञापालन ही मनुष्यका मनुष्यत्व और वीरोंका वीरत्व है। ब्राह्मण कर्तव्यपालनसे कभी पराङ्मुख नहीं होते थे। परशुराम पितृभक्तिमे प्रेरित होकर पितृवधके प्रतिशोधके लिये जिस प्रतिज्ञा पाशमें बँधे हुए थे, उस प्रतिज्ञाका पालन कर क्षत्रिय रुधिरसे उन्होंने पिताका तर्पण किया था। हम ब्राह्मणके प्रतिज्ञाबलका महातेज परशुराममे पाते हैं। प्रतिज्ञा करनेसे क्या नहीं होता ? सीताके उद्धारके लिये रामचन्द्रने प्रतिज्ञा कर कौनसा असाध्य साधन नहीं किया था? भीष्मने पिताके सन्तोषके वास्ते दृढप्रतिज्ञ होकर सदाके लिये भोगसुख और राजसिंहासन छोड़कर ब्रह्मचर्यका पालन किया था। कर्णने अर्जुनवधकी जो प्रतिज्ञा की थी उससे पाण्डव काँप उठे थे। कर्ण उस कठिन प्रतिज्ञापर आरूढ़ होकर ब्रह्मास्त्रके लिये द्रोणसे अपमानित हुए थे और महेन्द्र पर्वत पर परशुरामके पास गये थे। वहाँ उन्होंने पूर्ण अध्यवसायसे उनकी सेवा-शुश्रूषा करके बड़े कष्टसे वह परमास्त्र प्राप्त किया था। इधर कर्णवधकी प्रतिज्ञा करके अर्जुन भी स्वर्गलोक और

मर्त्यलोकमें घूम घामकर अस्त्रविद्यामें पारदर्शी हो आये थे। अभिमन्यु-वधके उपरान्त सूर्यास्त होनेके पहले ही जयद्रथ-वधके लिये अर्जुनने जो भयङ्कर प्रतिज्ञा की थी, उसे सुनकर कृष्णतक काँप उठे थे। उस भीषण प्रतिज्ञाके कारण कुरुशिविरमें घोर रणके लिये बहुत बड़ा आयोजन हुआ था। दुःशासनका रुधिर पीनेमें भीमका प्रतिज्ञाबल प्रकट होता है। धृष्टद्युम्नकी प्रतिज्ञासे द्रोणका पतन हुआ। द्रोणके पतनसे अश्वत्थामाकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। किस प्रकारके बीभत्स व्यापारसे पाञ्चालोंको मारकर अश्वत्थामाने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की थी, इसका वर्णन महाभारतमें दिया हुआ है। प्रतिज्ञाबद्ध हंसध्वजने अपने पुत्र सुधन्वाको गरम तेलमें डाल दिया था। यद्यपि इन प्रतिज्ञाओंमें रक्तपात हुआ था, तथापि मानुषी प्रतिज्ञा किस प्रकार बलवती होती है, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। वीरकी उस प्रतिज्ञाका प्रभाव जबतक रहता है तबतक देश सुरक्षित रहता है। क्षत्रियके प्रतिज्ञाबलसे पहले भारत काँप उठता था। वह प्रतिज्ञाबल आज नहीं है—भारत भी पहलेका नहीं रहा। फिर भी कहते हैं कि इसी प्रतिज्ञा बलसे मनुष्यका मनुष्यत्व और वीरोंका वीरत्व है।

बिना रक्तपातके वीरोंका सत्य-पालन।

सत्य-पालनमें भी इसी प्रतिज्ञाका प्रभाव रहता है। जब रामचन्द्रको वनवास हुआ था तब उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, उससे कभी किसीने उनको विचलित किया था? पिताकी आज्ञाका पालन ही उनके लिये धर्म था। उस धर्मसे उनकी माता, स्त्री, भाई, बन्धु, बान्धव, कुलगुरु आदिमेंसे कोई

उन्हें विचलित न कर सका। भरतने जाकर लौटनेके लिये उनसे बहुत ही अनुनय-विनय किया, पर उसका कोई फल न हुआ। रामने अपना व्रत किसी प्रकार भङ्ग नहीं किया। धर्मज्ञानने ही उन्हें इस व्रतको धारण करनेके लिये उत्तेजित किया था। उसी धर्मज्ञानसे उन्होंने राजमुकुट और राज-भोगको एक क्षणमें छोड़कर वनवास लिया। राजभोगका सुख उन्होंने बहुत तुच्छ समझा। उनके हृदयमें इतना बल था, इतनी निस्पृहता थी कि जिससे उन्होंने चौदह वर्षके लिये सारे सुख, सारे लोभ और सारी लालसाको झट छोड़ दिया। सत्य-पालनके लिये ऐसी ही प्रतिज्ञा चाहिए। यदि हृदयका बल देखना चाहते हैं तो सीताके निर्वासनके समय देखिये। जो प्रजापालन करता है, उस क्षत्रिय राजाको अपनी वासना चरितार्थ करनेकी क्या आवश्यकता है? जान पड़ता है कि उसके लिये उसे सारे सुखोंको जलाञ्जलि देनी होती है। इसीसे रामचन्द्रने उस प्रेममयी सीताको भी वनवास दे दिया। जिस सत्य-पालनमें दृढ़व्रत होकर राजा दशरथने रामचन्द्रको वन वास दिया था और ऐसा करके मृत्युकी शरण ली थी, आज रामने भी उसीके कारण राजधर्ममें दृढ़प्रतिज्ञ होकर सीताको वनवास दे दिया और आप मृतप्राय होकर रहे। दशरथने अपनी पत्नीको ही वचन दिया था। यदि वे चाहते तो उसे तोड़ सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

सत्यपालन बड़ा ही कठिन काम है। स्त्रीके निकट सत्य हो या किसी दूसरेके ही निकट, उसका पालन सत्यव्रतियोंके लिये आवश्यक है, क्योंकि सत्य ही उनका जीवन है। ऐसे ही

मर्त्यलोकमें घूम घामकर अस्त्रविद्यामें पारदर्शी हो आये थे। अभिमन्यु-वधके उपरान्त सूर्यास्त होनेके पहले ही जयद्रथ-वधके लिये अर्जुनने जो भयङ्कर प्रतिज्ञा की थी, उसे सुनकर कृष्णतक काँप उठे थे। उस भीषण प्रतिज्ञाके कारण कुरुशिविरमें घोर रणके लिये बहुत बड़ा आयोजन हुआ था। दु शासनका रुधिर पीनेमें भीमका प्रतिज्ञाबल प्रकट होता है। धृष्टद्युम्नकी प्रतिज्ञासे द्रोणका पतन हुआ। द्रोणके पतनसे अश्वत्थामाकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। किस प्रकारके वीभत्स व्यापारसे पाञ्चालोंको मारकर अश्वत्थामाने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की थी, इसका वर्णन महाभारतमें दिया हुआ है। प्रतिज्ञाबद्ध हसध्वजने अपने पुत्र सुधन्वाको गरम तेलमें डाल दिया था। यद्यपि इन प्रतिज्ञाओंमें रक्तपात हुआ था, तथापि मानुषी प्रतिज्ञा किस प्रकार बलवती होती है, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। वीरकी उस प्रतिज्ञाका प्रभाव जबतक रहता है तबतक देश सुरक्षित रहता है। क्षत्रियके प्रतिज्ञाबलसे पहले भारत काँप उठता था। वह प्रतिज्ञाबल आज नहीं है—भारत भी पहलेका नहीं रहा। फिर भी कहते हैं कि इसी प्रतिज्ञा-बलसे मनुष्यका मनुष्यत्व और वीरोंका वीरत्व है।

बिना रक्तपातके वीरोंका सत्य-पालन।

सत्य-पालनमें भी इसी प्रतिज्ञाका प्रभाव रहता है। जब रामचन्द्रको वनवास हुआ था तब उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, उससे कभी किसीने उनको विचलित किया था? पिताकी आज्ञाका पालन ही उनके लिये धर्म था। उस धर्मसे उनकी

लिये पहले गुरु कठिन गुरुदक्षिणा माँगते थे। तपोधन उतङ्क गुरुदक्षिणाके लिये महर्षि गौतमके आज्ञानुसार उनकी पत्नी अहल्याके पास गये। अहल्याने बिना जाने सुने एक असाध्य साधनमें उतङ्कको लगा दिया। अहल्याने सौदाम राजाकी पटरानीके दोनों कर्ण-कुण्डल माँगे। उतङ्क इस बातको स्वीकार कर जिस विपत्तिमें पड़ा, उसकी कथा महाभारतका अश्वमेध पर्व पढ़नेवाले विशद रूपमें जानते हैं। बेचारा उतङ्क अपने तपोबलके प्रताप और महर्षि गौतमकी कृपासे वशिष्ठके शापसे राक्षस रूपधारिणी सौदामकी पटरानीके दोनों कुण्डल कठिनता से प्राप्त करके गुरुगृहकी ओर आ रहा था। रास्तेमें दोनों कुण्डलोंको साँपने निगल लिया। उतङ्क मुनिके कष्टकी सीमा न रही। तथापि वे घबराये नहीं। उन्होंने नागलोकसे दोनों कुण्डल लाकर अहल्याको समर्पित किये। उन्होंने तपके प्रभावसे जो आन्तरिक बल और वीर्य लाभ किया था, उसीसे इस कठिन कार्यमें वे सफल मनोरथ हुए। आर्य साहित्यमें गुरुदक्षिणा लानेके लिये इस प्रकारके तपोबलकी वीरताके दृष्टान्त बहुत हैं।

महाकाव्यकी वीरता

आर्य साहित्य सब प्रकारकी वीरताके आदर्शोंसे परिपूर्ण है। महाभारत और रामायणको ही लीजिये। उनके समस्त चित्रोंको यदि चित्रित किया जाय तो रामायण और महाभारतसे भी विशाल एक एक ग्रन्थ बन जायगा। उनकी व्याख्या इस क्षुद्र पुस्तकमें कहाँ हो सकती है?

सामान्य कारणको लेकर युधिष्ठिरका सत्यपालन देख पडता है । वे सामान्य जूएमें सारा राज्य, सारा ऐश्वर्य, सारा संसार यहाँतक कि धर्मपत्नी भी हार गये। अन्तमें उन्होंने चौदह वर्षके वनवासका प्रण किया । इस प्रणमें भी वे हार गये । वे सब कुछ छोडकर वनवासी बन गये । किस लिये ? सत्य-प्रणके लिये, चाहे वह किसी बातके लिये क्यों न हो । जब धर्मपुत्र युधिष्ठिरने एक बार सत्य प्रण कर दिया तब उससे उनको कौन डिगा सकता था ? सारा ससार भी ऐसा नहीं कर सकता था। जिस आन्तरिक युद्धमे रामचन्द्र विजयी हुए थे, उस आन्तरिक युद्धके तुमुल काण्डका प्रकाश करनेके लिये ही व्यासने मानो द्रौपदीकी दुर्दशाकी कल्पना की है । उसी दुर्दशाके सामने युधिष्ठिर स्थिर बैठ हैं। एक ओर उनका सत्य और दूसरी ओर सारे संसारके विरुद्ध बल । युधिष्ठिरके हृदयमें घोर युद्ध आरम्भ है, तथापि युधिष्ठिर अचल और अटल हैं । इसी युद्धमे स्थिर होनेके कारण उनका युधिष्ठिर नाम सार्थक हुआ था । उनके हृदयमें सत्यकी विजय हुई । शत्रु-सभामें युधिष्ठिरकी परीक्षा हुई । युधिष्ठिरने विजयी होकर ससारमें सत्यपालनकी जयघोषणा कर दी ।

रक्तपातके विना ब्राह्मणका प्रतिज्ञा-पालन

गुरुदक्षिणा लानेके लिये ब्राह्मणको कठिन कष्ट उठाकर प्रतिज्ञा-पालन करना पडता था । ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याध्ययन करनेके समय शिष्यके हृदयमे कितना धैय, कितना संयम, कितनी तितिक्षा आदि बद्धमूल हुई हैं, इसकी परीक्षाके

अपने भाण्डारका वितरण करता है, जब युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके तुल्य दान, धर्म और दयाकी पराकाष्ठा दिखाता है, जब द्रौपदीके समान क्षमागुणसे भूषित होकर पाँच पुत्रोंके मारनेवाले अश्वत्थामा ऐसे अपराधीको क्षमा करता है, जब अपने आश्रित पर शिविके समान दया दिखाता है और अपने शरीर की भी उपेक्षा करता है, जब भीष्मके समान अपने चिरजीवनको ब्रह्मचर्य व्रतमें निरत रखता है, जब स्वधर्म-ज्ञानसे उदार बनकर दुर्योधनके समान अपने शत्रुको भी इच्छित वस्तु देनेमें आगापीछा नहीं करता और जब कर्णके समान अपना जीवन-सर्वस्व दे सकता है, तभी मनुष्यमें देवोचित वीरताका प्रकाश होता है। जब मनुष्य सत्यपालनमें प्रतिज्ञारूढ होता है, जब स्वधर्म, कुल, मान और मर्यादाकी रक्षाके लिये शत्रुकुलका ध्वंस करता है, जब धर्मार्थ पृथ्वीका भार मोचन किया जाता है, ब्राह्मणोंकी आश्रम-पीड़ा छुड़ानेके लिये दैत्योंका संहार किया जाता है, प्रजारञ्जनके निमित्त प्रिय पत्नीको भी छोड़नेमें सङ्कोच नहीं किया जाता, युद्धार्थ चाहे कोई क्यों न उपस्थित हो, अपने धर्मके नियमानुसार युद्धदान दिया जाता है, जब स्वधर्मानुसार स्वदेश और स्वराज्य-रक्षाके लिये बभ्रुवाहनके समान पिताके साथ भी घोर सग्राम होता है और जब कर्तव्य और स्वधर्मरक्षाका गौरव वीरताका आश्रय लेता है, तब मनुष्योचित वीरताका विकाश होता है। यूरोपमें स्वधर्म और स्वदेशरक्षाके लिये उन्नत Martyr और Patriot इस प्रकारकी मनुष्योचित वीरताके उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। वे यूरोपीय साहित्यके गौरव हैं।

वीर रससे लबालब भरा है। आर्य साहित्यमें जिस प्रकार प्रेमकी मधुरता है, उसी प्रकार वीरताकी भी तेजस्विता है। प्रेमकी नदी सरस्वतीके समान शान्त रूपसे बहती है और वीरताकी तरङ्गिणी ब्रह्मपुत्रकी धाराके समान गरजती हुई बहती है। भवभूति और कालिदासमें सुन्दर प्रेमकी लहरें लहराती हैं। वाल्मीकि और व्यासमें वीरताका प्रवाह बडे वेगसे होता है—वीर रसकी उत्ताल तरङ्गें उठती हैं। कुरुक्षेत्रके महासमरमें वीर रसकी उन्मत्तता देख पड़ती है। व्यासने बड़ी ओजस्विनी भाषामें जिस वीर रसकी धारा बहाई है, उसने समग्र भारतको अपनेमें मिला लिया है।

त्रिविध वीरता

हमने प्रेमकी जो त्रिविध गति दिखाई है वह वीरतामें भी है। मनुष्यमें कभी पशुकीसी उन्मत्तता और वीरता देख पड़ती है, कभी उसकी वीरता देवताकीसी होती है और कभी उस वीरतामें मनुष्यत्वका विकाश पाया जाता है। जब मनुष्यके शत्रु अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं, उसका लोभ पृथ्वीको भी ग्रास करनेके लिये उद्यत होता है, उसका काम निष्कलङ्क सतीको भी कलङ्कित करने पर उतारू होता है, उसके दर्पसे पृथ्वी भी कम्पित होती है, उसके रोषसे दशो दिशाएँ जलती हैं और उसके क्रोधकी तलवार पृथ्वीको रक्तसे डुबा देती है, तभी मनुष्यकी पशुवत् वीरता प्रकट होती है। और जब मनुष्य उच्च गुणोंसे वीर होता है, जब विश्वप्रेम और दयासे दानवीर होता है, जब बलिके समान सारी पृथ्वीको भी दान करके सन्तुष्ट नहीं होता, जब रघुके समान मुक्त हस्तसे कुबेर भाण्डारके समान

आन्तरिक पशुबलको भी दबाते थे। जो वीर ऐसे विविध युद्धोंमें विजयी होते हैं वेही सचे वीरोंमें गिने जानेके योग्य होते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ, जिसके भीतर शत्रु ज्योंके त्यों बने रहे, तो उनके बाहरी शत्रुओंपर विजय पानेका फल क्या हुआ ? उनके लिये सुख और शान्ति कहाँ ? सारी पृथ्वी भी यदि उनके हाथमें हो तो भी वे दुखी ही बने रहेंगे, पृथ्वीमें उन्हें शान्ति नहीं मिल सकती।

वीरोंकी सम्पत्ति

हृदय-समरमें विजयी बनकर जिन्होंने भीतर शान्ति-स्थापन किया है उन्हींके अधीन पृथ्वी है। वे और कुछ नहीं चाहते। राजसिंहासन, कुबेरका भाण्डार, सब कुछ उन्होंने पा लिया है। उनके निस्पृह हृदयको मोहने और लुभानेवाली कोई चीज नहीं है। भरतने राजसिंहासन पाकर भी उसे तुच्छ समझा था। बड़े कष्टसे कुरुक्षेत्रमें विजय प्राप्त करके भी युधिष्ठिर राजसिंहासन पर नहीं बैठे। व्यासने युधिष्ठिर-को वैराग्य सिखाकर और अन्य पाण्डव वीरोंको ज्ञानका उपदेश देकर यह विश्वास दिला दिया था कि आप लोगोंने ज्ञान-बलसे हृदयके शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। आप चाहें तो भोग-सुखसे विलग होकर भी संसार और राजधर्म निबाह सकते हैं। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी सभीके मुख-से उसी ज्ञानबलका विक्रम प्रकट होता था। जो व्यास और श्रीकृष्णकी शक्ति है, जो नारदादि ऋषियोंका महात्तपोबल है, वही ज्ञानप्रभाव पाण्डवोंकी बातोंसे भी प्रकाशित हुआ था।

आर्य वीरकी विशेषता

किन्तु यूरोपीय वीरोंके साथ आर्य वीरोंकी विशेषता कहाँ है ? व्यासने एक स्थानपर इसका विशद वर्णन किया है । हमने यूरोपीय इतिहासमें गृह युद्धका बहुत वर्णन पढा है । किन्तु किसी युद्धमें अर्जुनके समान समरके समय हृदय-वेदनासे अस्त्र शस्त्र छोडकर विमुख होते हुए किसी वीरको नहीं देखा। अर्जुनने युद्धमें आकर देखा कि सामने भीष्म, द्रोण आदि गुरु जन विद्यमान हैं । अर्जुनकी श्रद्धा, भक्ति आदि प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठीं उन्होंने फिर देखा कि वे सबके सब युद्धके लिये प्रस्तुत हैं। क्षात्रियका यह धर्म है कि जो युद्धके लिये सामने आवे उसीके साथ युद्ध करे । इससे अर्जुनके हृदयमें घोर संग्राम उठ खडा हुआ। बाहरी युद्धमें प्रवृत्त होनेके पहले भीतरी युद्ध में विजय लाभ करना पड़ता है । ऐसी उन्मत्तताके समय पृथ्वीके किस वीरके हृदयमें ऐसी वेदना उठी होगी और वह भारी असमजसमें पड गया होगा ? इस घटनासे क्या जान पडता है ? क्या इस घटनामे यह बात स्पष्ट नहीं होती कि पहले आर्य वीर कैसी उच्च शिक्षासे शिक्षित होते थे ? क्या वे केवल बहरी युद्धके लिये शिक्षित होते थे ? उनका आभ्यन्तरिक तपोबल कहाँसे आता था ? वे किस बलसे जितेन्द्रिय, होते थे ? भुजबल की वृद्धिके साथ उनके प्रेम, भक्ति और श्रद्धाका अनुशीलन भी बढता था । बाहरी शत्रुओंको परास्त करनेके लिये वे जिस युद्धविद्यामें पारङ्गत होते थे उसीके साथ हृदयशत्रु और पाप-प्रवृत्तियोंका भी विजय करना सीखते थे। अस्त्रबल और युद्धकौशलसे वे जैसे असुरोंका सहार करना सीखते थे, वैसे शम, दम आदिसे

हुए थे। अब भी जनकके समान भगवत् प्रेममें सारे ससार-का सुख विसर्जित करके उन्होंने सिद्धि-लाभ नहीं किया था। इसीसे श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके सामने समस्त राजर्षि चरित-का चित्र अङ्कित किया था। भीष्मदेवने युधिष्ठिरको वही मार्ग दिखलाकर अपना शरीर छोड़ा। जिस निष्काम निवृत्ति पथ और विश्वप्रेमका उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने दिया था वह आजतक पाण्डवोंको उपलब्ध नहीं हुआ था। अर्जुनने निष्काम भावसे कब युद्ध किया था? युद्ध-कालमें भीष्म, द्रोण आदिके विपक्षमें वैसा उद्योग तो नहीं किया था। राज्य पानेपर राम और जनकके समान क्या वे निर्लिप्त भावसे राजकार्यका सम्पादन कर सकते थे? यदि नहीं तो वे यथार्थ क्षत्रियके राजधर्ममें दीक्षित नहीं हुए। वे आज भी पृथ्वीपर राम राज्य लानेमें समर्थ नहीं हो सके। क्षत्रिय राजा होकर भी वे विश्व-प्रेमका परिचय न दे सकते थे इस कारण वे राजमुकट धारणके योग्य पात्र नहीं हुए। विश्वप्रेमपूर्ण उस पार्थिव राज्यका चित्र वाल्मीकिने रामायणमें चित्रित किया है। वह दशरथका राज्य था—रामका राज्य था। आर्य वीर राजसिंहासनपर बैठकर जिस प्रेम राज्यका विस्तार करेगा, उसीका राम राज्यमें वर्णन किया गया है। उसी राज्यपर रहकर राम प्राणोपम सीता देवीको भी त्यागकर एकान्त मनसे प्रजा-रञ्जन करते थे। संसारके हितके लिये उन्होंने अपने इष्टको भी छोड़ दिया था। उस रामराज्यमें सभी स्वर्गका सुख भोगते थे। क्या वह रामराज्य फिर भी भारतमें स्थापित होगा?

जिन्होंने इस समय उस शक्तिके प्रभावसे इन्द्रिय-विजयी होकर अपने तपोबलसे हृदय और मनको पूर्ण रूपसे वश करके जीवनको सार्थक किया है, उन्हें पार्थिव सैन्य-बल और भुजबलकी कमी नहीं होती। क्षणभरमें वे हजारों सेनापति संग्रह कर सकते हैं। विश्वामित्र और वशिष्ठकी आज्ञामें सैंकडों सेनाएँ लड़ाईके मैदानमें आ डटीं। ऋषियोंमें घोर युद्ध ठना। किन्तु विश्वामित्र तब भी वशिष्ठके समान शक्तिशाली नहीं हुए। अन्तमें विश्वामित्रकी हार हुई। इसके बाद विश्वामित्र ब्रह्मर्षि होनेके लिये दृढप्रतिज्ञ होकर तपस्या करने लगे। ब्राह्मण्य लाभ कर विश्वामित्रने ज्ञान-बलसे ब्रह्मत्व लाभ किया।

आदर्श राज्य

जिस वीरका युद्धमें शरीरपात होता है उसे स्वर्ग मिलता है, यह आर्योंका विश्वास है। इसीसे दुर्योधनने मरनेके समय पाण्डवोंको लक्ष्यकर कृष्णसे कहा था कि हम अपने भाइयों और बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वर्ग चले। तुम सब शोकाकुल होकर इस पृथ्वीपर बने रहो। किन्तु दुर्योधनको यह विदित नहीं था कि श्रीकृष्ण और पाँचो पाण्डवोंने इस पृथ्वीपर ही स्वर्गकी सृष्टि की है। वे स्वर्गके लिये लालायित नहीं हैं। स्वर्गकी अपेक्षा भी जो उच्च ब्रह्मपद है, उसके लिये वे प्रयत्नशील हैं। महात्मा मुद्गल मुनिने स्वर्गीय विमानको तुच्छ समझकर जिस ज्योतिर्मय ब्रह्मपदकी प्राप्तिकी लालसासे शम गुणके साथ ज्ञानयोगका अवलम्बन किया था, उसी ज्ञानके लिये युधिष्ठिर आदि इस पृथ्वीपर थे। वे अभी तक राजर्षिके योग्य नहीं

पशुत्वकी प्रधानता नष्ट हो और मनुष्यत्व तथा देवत्वकी प्रधानता बढ़े, वही शिक्षा है । हिन्दू समाजमें वह शिक्षा पारिवारिक और सामाजिक रीति नीतिके द्वारा ही अधिकतर सिद्ध होती है । स्त्री जातिको यदि उसके स्वभावाधीन कर दिया जाय तो उसकी प्रकृति कहाँ तक निन्दनीय हो सकती है, इसका वर्णन हमारे आर्य शास्त्रोंमें दिया हुआ है । किन्तु वही स्त्री जाति शिक्षाके प्रभावसे कैसे देवियोंकी गिनतीमें आ जाती है, इसका वर्णन भी हमारे आर्य शास्त्रोंमें है । मानव प्रकृति स्वभावतः इतनी मलिन होती है कि जबतक वह बाल्य कालसे ही परिष्कृत न की जाय तबतक उसमें प्रकृतिका सौन्दर्य झलकता ही नहीं । हिन्दूके घरमें बाल्यकालमें ही बालकों और बालिकाओंको शिक्षाव्रत ग्रहण करना पड़ता था । इस शिक्षा-व्रतमें बड़ी कठिन शासन-प्रणालीका विधान है । जैसे पिताके घरसे लेकर गुरुगृह तक बालकोंकी शिक्षा होती थी वैसे ही बालिकाओंको भी विनीत होनेकी शिक्षा पिताके घरसे लेकर श्वसुर गृह तक मिलती थी । वे तरुणावस्थामें ही सुशील होनेके लिये ससुराल भेज दी जाती थीं । जिस तरुणावस्थामें बालक गुरुगृहमें जाते थे उसी तरुणावस्थामें

साहित्यमें देवत्व।

सतीका आदर्श

हम पहले ही कह आये हैं कि आर्य कवियोंने अनेक आदर्शोंकी सृष्टि की है। नामके ही आदर्श नहीं, बड़े बड़े कामके आदर्श भी दिखलाये हैं। उन विशाल आदर्शोंने आर्यों की कल्पनाको ऐसा पूर्ण कर रक्खा है कि उनके निकट सामान्य कवियोंके कल्पना प्रसूत आदर्श ठहर ही नहीं सकते। तुम कितने ही प्रयत्नसे सतीकी प्रतिमा क्यों न गढ़ो, पर सीताकी स्वर्णमयी प्रतिमाके सामने वह अत्यन्त हीन ही प्रतीत होगी। कितना ही विशाल बनाकर सतीका चित्र क्यों न खींचो पर दमयन्तीके विशाल चित्रके सामने वह बड़ा ही क्षुद्र प्रतीत होगा। जैसे बड़े बड़े जहाजोंके सामने छोटी छोटी नौकाओंकी कोई गिनती नहीं, वैसे व्यास और वाल्मीकिके चित्रित आदर्श निकट सामान्य कल्पित चित्रोंकी भी हीनता होगी भूति, श्रीहर्ष आदि आधुनिक कवियोंने व्यास और पीछा करके उनके आदर्शोंको ही पुष्ट, वर्द्धित अलकृत किया है, उन्होंने किसी नये सती चरित्रकी नहीं की है।

स्त्री-शिक्षा

स्वभावत मानव प्रकृतिमें पशुताकी ही प्रधानता है। इस पशुत्वको नष्ट करना ही शिक्षाका प्रधान कार्य है।

सम्भव है ? जिन्होंने ससारके स्रोतमें गहरे गोते लगाये हैं, उनके लिये उस गतिका निरोध कभी सम्भव नहीं। जिसमें हम भी उस स्रोतमें बह न जायँ, इसके लिये तत्तुल्य ही अव-लम्बन की, जिसके सहारे उसमें डूब न सकें, आवश्यकता है। जो लोग शिक्षाके प्रभावसे वैसा अवलम्बन पा सके हैं वे ही उस सासारिक स्रोतके विरुद्ध खड़े हो सकते हैं। केवल वे ही यौवनकी उन्मत्ततापर अपना शासन रख सकते है, और शत्रुकुलको दबाकर ससारमें भगवान्की प्रतिष्ठा कर सकते हैं। इसी बलके लिये नारीके शिक्षाव्रत और सतीत्वकी सृष्टि है, इसी लिये गुरु गृहमें शिष्यका शासन, वेदाध्ययन और ससाराश्रमके निवृत्तिपथमें ले जानेवाले शम, दम आदिकी आवश्यकता होती है। वेदाध्ययन और शास्त्रशिक्षा शिक्षा-कार्यके केवल सहायक मात्र हैं। मनुष्योंको सच्चरित्र बनाना ही शिक्षाका प्रधान उद्देश्य है।

मैत्री

स्त्री-शिक्षाका चूडान्त फल सतियोंकी सृष्टि है। हिन्दू गृहमें इसकी अपेक्षा और कोई उच्च स्त्रीशिक्षा नहीं थी। दूसरी शिक्षाएँ ... दी जातीं तो बालक शिक्षाके समान उनका भी ... होता। पर उनका विवेचन हमारे धर्म-... नहीं है। यदि स्त्रियोंको और शिक्षाएँ देना ... गुरु गृहकी शिक्षा प्रणालीको जैसे विधि-... विधिबद्ध करते। अयोध्या-... पाते हैं। किन्तु उस

घरमें जैसा शासन सम्भव है, वैसा अपने घरमें न होनेके कारणही हिन्दुओंके घरमें ऐसी सामाजिक व्यवस्था है। उस समय इसी व्यवस्थासे बालक बालिका सुशिक्षित होकर ससार-कार्यमे निपुण और सुखी होते थे। जब ये बालक-बालिकाएँ प्रौढ होकर ससाराश्रमकी अधिकारी होती थीं, तब उनके भी बालक-बालिकाएँ होती थीं और ससार-वृक्ष चारों ओर अपनी शाखा-प्रशाखाओंको फैलाता था और तब उनकी शिक्षाका प्रत्यक्ष फल देख पडता था और। वे किस प्रकार मनुष्य होकर अपने बालबच्चोंको मनुष्य बनानेमे समर्थ होते थे, सासारिक कृत्योंका किस प्रकार निर्वाह करते थे, और प्रेम तथा स्नेहसे किस प्रकार सबको प्रसन्न और सन्तुष्ट रखते थे, इसका प्रत्यक्ष परिचय मिलता था।

ससाराश्रममें प्रवृत्तिका बडाही विस्तृत क्षेत्र है। प्रवृत्तिके इस विशाल क्षेत्रमें, जिन्होंने प्रवृत्तिकी घोर लहरोंमें अपनेको स्वतन्त्रतापूर्वक लहराने दिया है उनकी सासारिक तरङ्गेंही खूब बढती हैं, वे कालचक्रमे खूबही चक्कर लगाते हैं। प्रवृत्तिके स्रोतमें उनकी आत्मा सदा एक ससारसे दूसरे ससारमें घूमा करती है। जन्मजन्मान्तरमें उनकी आत्मा इसी प्रकार भरमती रहती है। ससारके सुख-दु खही उनकी सभोग्य वस्तु और प्रधान सम्पत्ति हैं। वह सुख कितनाही क्यों न बढे, उसमें दु खकी मात्रा ही अधिक रहती है। ससार "विषकुम्भ पयोमुख" है। इसी लिये हमारे ऋषियोंने इस संसारसे निवृत्त होनेके लिये ही मार्ग दिखलाये हैं। इस प्रवृत्ति-वेगको दबानेसेही ससारका गतिरोध होता है। क्या इस ससारका गतिरोध

पहुँच जाता है। यह जगत्पतिका प्रेम जितना ही पूर्ण होगा उतना ही विस्तृत होकर विश्वव्यापी हो जायगा। क्षमा और दानधर्मसे नारीके प्रेमकी प्रशस्तता प्रकट होती है। स्त्री, अतिथि-अभ्यागतको भगवान् समझकर उनका सत्कार करती है। इस पूजाके साथ और भी उदारता बढ़ती है। जो अनुराग पहले केवल पतिमें ही था वह भगवान्के सब जीवोंमें हो जाता है। सब जीवोंपर जबतक दया नहीं दिखलाई जाती, तबतक भगवानकी जैसी पूजा चाहिए, वैसी नहीं होती। साराश यह कि ससारका सकीर्ण प्रेम विश्वमें विस्तृत हो जाता है।

जब सतीका प्रेम इस प्रकार फैलकर सब जीवोंमें हो जाता है तब उसका नाम विश्वव्यापिनी "मैत्री" हो जाता है। पहले जो स्त्री इस प्रकारकी मैत्रीकी पात्र होती थी, वही अपने पतिके सग वनमें जाकर मुक्तिकी अधिकारिणी होती थी। याज्ञवल्क्यकी दोनों पत्नियोंमें मैत्रेयी ही ऐसे उदार प्रेम पथतक पहुँची थी। इसीसे ऋषिने उसको आत्म ज्ञानकी अधिकारिणी समझकर कहा था—"तुम स्वामीको प्यार करती हो, इसीसे तुम्हारा स्वामी प्रिय नहीं है, तुम जो आत्माको प्यार करती हो, इसीसे तुम्हारा स्वामी प्रिय है। वस्तुत धन सम्पत्तिको तुम चाहती हो, इसीसे वह प्यारी नहीं है, बल्कि तुम आत्माको चाहती हो, इसीसे वह प्यारी है। वस्तुत पुत्रोंको प्यार करती

सीताने जनकके घरमें किस शिक्षाके प्रभावसे ऐसा सतीत्व-गौरव प्राप्त किया था, इसका वर्णन कहीं नहीं मिलता। सीताने अपने पिताके घर राजर्षि जनककी सांसारिक व्यवस्था देखकर ही वैसी शिक्षा पाई थी, यह निश्चय रूपसे कहा जा सकता है। वहाँ सीताको सुशीला सतियोंका दृष्टान्त अवश्य दिखाई पड़ता था। व्रत, नियम और पातिव्रत्यमें संयमकी शिक्षा अवश्य होती थी, और लड़कपनसे भक्तिवृत्तिको भी उत्तेजना अवश्य दी जाती थी। इसी भक्तिसे स्त्री अपने पतिको अपना जीवन-सर्वस्व समझती है। जो स्त्री भक्तिभावसे एकनिष्ठ,निःस्वार्थ और निराकांक्ष होकर पतिकी शुश्रूषा कर सकती है, वह उसी भाव से वैसी होकर देवताकी भी शुश्रूषा करेगी, इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो लड़कपनसे ही गुरुजनोंका आदर और देवताओंकी भक्तिभावसे पूजा करती आती है उसके लिये पातिव्रत्य धर्म कठिन नहीं है। जो भक्ति शिक्षा बाल्यकालसे ही दी जाती है,उसकी परिपुष्टि वयोवृद्धिके साथ ही होती जाती है। अनुराग और प्रेमका प्रसार भाई बहनोंमें इसी प्रकार होकर दिनादिन बढ़ता जाता है। वेदज्ञानमें जिनकी पैठ नहीं, उनके लिये भक्ति ही सुमार्ग, प्रधान शिक्षा और तपस्या है। सती पहले जीवित स्वामीकी पूजा करना सीखती है। क्योंकि अशिक्षित नारियोंके लिये प्रत्यक्ष देवता ही अधिकतर भक्तिके पात्र हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि जीवित देवताकी पूजासे ही नारी देवप्रतिमाकी पूजामें लगती है। भक्तिपथमें स्थूल देवताकी ही पहले पूजा होती है। पीछे वही पूजा सूक्ष्म देवपूजामें परिणत हो जाती है। पार्थिव पति प्रेम ही बढ़कर जगत्पतिके प्रेम तक

पतिका आदर्श

यही सती आर्योंकी आदर्श सती है और उसका पति ही आदर्श पति है। उसी विश्वेश्वर और विश्वेश्वरीको लेकर हमारे यहाँ पति पत्नीका सगठन हुआ है। सती और पतिकी आदर्श जोड़ी हर-पार्वती हैं। आर्य कुमारी सदाशिवके समानही पति चाहती है। उसके लिये वैसा पति आशाका स्वर्गसुख और कल्पनाकी प्रतिमा है। शिव जैसे भवानीमें सदा आसक्त रहते हैं, वैसेही आर्य कुमारी अपने पतिको अपनेमें आसक्त देखना चाहती है। इसीसे वे तरुणावस्थामें शिवकी पूजा और व्रत करती हैं। वे शिवसे वर माँगती हैं कि हमें जन्मजन्मान्तरमें तुम्हारे समान पति मिले। यही कौमार-व्रत कालिदासने पार्वतीमें दिखलाया है।

कुमारावस्थामें हम पार्वतीको शिवकी आराधना करते हुए पाते हैं। सती रूपसे पार्वती शिवको पाकर बड़ी सुखी हुई थी। फिर भी उसी महादेवको पति बनानेके लिये एकान्त अनुरागसे पार्वती तपस्या करने लगी। पार्वतीकी तपस्याका दृश्य कैसा सुन्दर और मनोहर है! कालिदासके इस दृश्यका वर्णन किसका मन नहीं मोह लेता! पार्वती कठिन तपस्यासे शिवको अनेक प्रकारसे प्रसन्न करती। कैलास पर पार्वतीकी शिवपूजाके लिये कितनेही फूल फूलते। महादेव पूजाके समय पार्वतीसे फूल लेकर बड़ेही सन्तुष्ट होते। अन्तमें तपस्यासे सन्तुष्ट कर पार्वतीने उसी महादेवको पतिरूपसे प्राप्त किया।

पतीका आदर्श नहीं दिया है? पतिका आदर्श भी आर्य साहित्य-में है। आर्योंने सतीका आदर्श कहाँसे प्राप्त किया था? वह आदर्श सबसे पहले सतीसे मिला था जो अनादि कालसे ही वर्तमान थी और जो पुरुषमें आसक्त थी। देवादर्श ही आर्योंके लिये अनुकरणीय है। आर्य साहित्यने उनके समक्ष देवादर्शको ही प्रकाशित किया है। वह देवादर्श ही प्रकृति-सती भवानी है। मनुष्योंके निकट पुरुष केवल प्रेममय सत्तामें ही उपलब्ध होता है। केवल प्रेम ही सारे संसारको मिलाता और अलग करता है। वही प्रेममय सत्ता सारा संसार, विश्वब्रह्माण्ड और प्रकृति है। इसमें पुरुषकी प्रेममयी मूर्ति ही प्रकृति हुई। प्रकृति कबसे है? जबसे पुरुष है। पुरुष अनादि कालसे वर्तमान है, उसी अनादि कालसे प्रकृति पुरुष परस्परासक्त हैं, क्योंकि पुरुषकी सत्तामें ही प्रकृतिकी सत्ता है। पुरुषके आश्रित होनेके कारण ही पुरुष विश्वेश्वर कहलाता है और प्रकृति विश्वेश्वरी कहलाती है। विश्वेश्वर प्रकृतिमें ही पैठकर विश्वकी रचना करते हैं, रक्षा करते हैं और नाश करते हैं। विश्वेश्वरकी यही लीला है। यह लीला न रहे तो प्रकृति-पुरुष ठहर ही नहीं सकते। मनुष्योंके निकट यह संसार मायामय है। महामाया यही विश्व प्रकृति है। महामाया सदा पुरुषके प्रेमाधीन है, सती पुरुषके पैर तले है। वही पुरुष प्रकृतिका सर्वस्व और सर्वाश्रय है। उसको लेकर ही सतीका संसार है—उसीके कार्यमें वह लगी रहती है। पुरुषमें वह सदा स्थिर रहती है-वह सती सदा उसमें आसक्त रहती है। जो सदा वर्तमान है, वही सत् और जो सदा आश्रित भावसे रहती है, वही सती है।

रहती है। जिस घरमें स्त्रीका मान आदर है, उसी घरमें सदा सुख विराजता है और लक्ष्मीका डेरा पडा रहता है। मनु महाराजके मतसे ऐसा ही आनन्दमय पति आदर्श पति कहलाता है।

अव्यभिचारी

मनुने यह भी कहा है कि "मरण काल तक अव्यभिचारी बनकर रहना स्त्री पुरुषका परम धर्म है। विवाहित स्त्री पुरुष वियुक्त न होकर किसी प्रकार व्यभिचार न करें, इस विषयमें सदा सावधान रहना चाहिए" आदर्श पति प्रेममय, आशुतोष, सदानन्द और पत्नीको लक्ष्मी समझता है। इससे वह आप कभी व्यभिचारमें लिप्त होकर अपनी पत्नीको असन्तुष्ट करना नहीं चाहता। वह अपनी पत्नीको आजीवन अपने साथ रख कर उसकी रक्षा करता है। वह जानता है कि स्त्रीजाति सामान्य दु सङ्गसे भी सदा रक्षणीय है। क्योंकि इस विषय-में थोड़ी सी भी असावधानी की जाय तो वह स्त्री श्वसुर-कुल और पितृ कुल, दोनोंको कलङ्कित कर देती है। इससे पति उसे सदा अपने निकट रखता है। जिस घरमें पति-पत्नी सर्वदा एकत्र रहकर ससार कार्यका निर्वाह करते हैं उस घर में दोनों एक दूसरेके शासनमें रहते हैं। इससे व्यभिचारकी कोई सम्भावना नहीं रहती। प्रेममयके अङ्कमें प्रेममयी सा सुखसे रहती है और प्रेममय पति भी प्रेममयीका से शुश्रूषासे स्वर्ग सुख भोगता है।

मनुने व्यभिचारके छ कारण बताये हैं—

पति आशुतोष है तो उसमें सारे गुण हैं। जो एक ही बातसे प्रसन्न हो जाता है उसके साथ रहना क्या है, स्वर्गसुख लूटना है। वह सदा ही प्रफुल्ल और प्रसन्न रहती है। जो स्वत. प्रफुल्ल रहता है उसकी स्त्री भी प्रफुल्ल बनी रहती है। उस पतिपत्नीके लिये ससारमे सदा सुख है। जो थोड़ेमें ही सन्तोष पाता है उसकी सेवा करनेसे भी सन्तोष होता है। ऐसे ही आशुतोष बम भोला शङ्करके समान पति पानेकी आशा आर्य नारियाँ हमेशा रखती हैं।

आनन्दमय

जो थोड़ेमें ही सन्तुष्ट रहता है वह सारा दिन काम करके घर आकर देखता है कि घरवालीने मेरे लिये यह सब कुछ तैयार किया है। इससे उसके आनन्दका ठिकाना नहीं रहता। भोलानाथ सारा दिन ससारकी ही भावनामें लगे रहते हैं। घर आकर देखते हैं कि दिया जल रहा है। सारा घर साफ-सुथरा है। घरमें जहाँ जो कुछ रखनेसे शोभा होती है, वहीं वह चीज रक्खी हुई है। सती सुन्दरी बनकर स्वामीकी अभ्यर्थनाके लिये खड़ी हुई है। अब भोलानाथका क्या कहना है? वे आनन्दसे पागल होकर, नाचने लगे। उस आनन्दमयके आनन्दकी सीमाका ठिकाना नहीं रहता। सदानन्द शिवने घरमें आकर देखा कि स्वय लक्ष्मी विराज रही हैं। जो पति शिवके समान प्रेममय और सदानन्द हैं वे सचमुच अपनी स्त्रीको घरकी लक्ष्मी समझते हैं। जो अपनी स्त्रीको लक्ष्मी समझता है उसके घरमें श्री सदा सन्तुष्ट

रहती है । जिस घरमें स्त्रीका मान आदर है, उसी घरमें सदा सुख विराजता है और लक्ष्मीका डेरा पड़ा रहता है । मनु महाराजके मतसे ऐसा ही आनन्दमय पति आदर्श पति कहलाता है ।

अव्यभिचारी

मनुने यह भी कहा है कि "मरण काल तक अव्यभिचारी बनकर रहना स्त्री पुरुषका परम धर्म है । विवाहित स्त्री पुरुष वियुक्त न होकर किसी प्रकार व्यभिचार न करें, इस विषयमें सदा सावधान रहना चाहिए" आदर्श पति प्रेममय, आशुतोष, सदानन्द और पत्नीको लक्ष्मी समझता है । इससे वह आप कभी व्यभिचारमें लिप्त होकर अपनी पत्नीको असन्तुष्ट करना नहीं चाहता । वह अपनी पत्नीको आजीवन अपने साथ रख कर उसकी रक्षा करता है । वह जानता है कि स्त्रीजाति सामान्य दु सङ्गस भी सदा रक्षणीय है । क्योंकि इस विषयमें थोड़ी सी भी असावधानी की जाय तो वह स्त्री श्वसुर-कुल और पितृ कुल, दोनोंको कलङ्कित कर देती है । इससे पति उसे सदा अपने निकट रखता है । जिस घरमें पति-पत्नी सर्वदा एकत्र रहकर ससार कार्यका निर्वाह करते हैं उस घर में दोनो एक दूसरेके शासनमें रहते हैं । इससे व्यभिचारकी कोई सम्भावना नहीं रहती । प्रेममयके अङ्कमें प्रेममयी सदा सुखसे रहती है और प्रेममय पति भी प्रेममयीका सेवा शुश्रूषासे स्वर्ग सुख भोगता है ।

मनुने व्यभिचारके छः कारण बताये हैं—मद्यपान, असत्

पुरुषका संसर्ग, भर्तृविरह, इधर उधर घूमना, अकालनिद्रा, और परगृहवास। व्यभिचारके विषयमें ये छ कारण जैसे स्त्रीके लिये ठीक हैं, वैसे ही पुरुषके लिये भी संगत हैं। व्यभिचार रोकनेके लिये, ये सब दोष जिसमें पैठने न पावें, इस विषयमें आदर्श पति सदा सयत्न रहें। पुरुष जैसे आप सांसारिक कार्योंमें सदा फँसा रहता है वैसे ही स्त्रीको भी घरकी देखभाल करने, सब सामान दुरुस्त रखने, रसोईका काम करने और ऐसे ही गृहस्थीके अन्यान्य काम निबटाने आदिमें लगाये रखना चाहिए। ऐसा करनेसे ही छ प्रकारके व्यभिचारके दोष घरमें नहीं पैठ सकते।

धर्माश्रय

एक ओर दोषोंका निवारण जैसा कर्तव्य है वैसे दूसरी ओर स्त्रीके प्रेम और भक्तिको बढाना भी कर्तव्य है। इसीसे आदर्श पति सहधर्मिणीको सारे धर्मानुष्ठानोंमें सहकारिणी बनाये रखते हैं। केवल ब्रह्मयज्ञ छोड़कर और चार यज्ञोंमें सहधर्मिणीका साक्षात् सम्बन्ध है। पितृ, देव, भूत और मनुष्य इन चतुर्विध यज्ञोंमें सहधर्मिणी ही सब कुछ करती है। अतिथि-सेवा और अन्नदानमें उसकी सहायता बड़ी आवश्यक है। क्या इससे केवल पतिकी ही प्रवृत्ति और भक्ति चरितार्थ होती है? नहीं। सहधर्मिणीके भी प्रेम और भक्तिका प्रसार होता है। हिन्दूका घर एक प्रधान धर्मक्षेत्र है। उसमें केवल पति पत्नी ही नहीं, सारा परिवार रहता है। उस धर्मक्षेत्रमें रहनेवाले पति, पत्नी, पुत्र, कन्या, भाई, बहन,

पिता, माता, सभी धर्ममें पक्के होते हैं। जिस घरमें इस धर्म-का प्रभाव नहीं है, वह हिन्दूका घर ही नहीं कहा जा सकता। हिन्दू घरमें नित्य, नैमित्तिक, मासिक, वात्सरिक आदि सारे धर्मानुष्ठान करनेसे ही भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, क्षमा, आदि उत्कृष्ट वृत्तियोंकी स्फूर्ति होती है। जिस परिमाणमें ये कार्य होंगे उसी परिमाणमें उनकी स्फूर्ति होगी। हिन्दू घरमें धर्मानुष्ठानके निरर्थक स्थान नहीं हैं। उनके द्वारा पति पत्नीका प्रेम भगवान्‌के प्रेम तक पहुँच जाता है। पतिकी प्रेम नदी सहधर्मिणीके प्रेमके साथ भगवत्प्रेमके संसार सागरमें आ गिरती है। भगीरथने गङ्गाको लाकर समुद्रमें मिला दिया था। उसके साथ ही यमुनाका जल भी मिल गया था। गङ्गा यमुनाकी सम्मिलित धाराने कपिलाश्रममें ऋषिसे पूत होकर सगरवंशका उद्धार किया था। संसारमें पति पत्नीका प्रेम भी पवित्र हो-कर और विश्वव्यापी भगवान्‌में व्याप्त होकर सब प्राणियोंमें फैल जाता है। प्रेम उस समय आकर मैत्रीमें परिणत हो जाता है। याज्ञवल्क्यने अपनी सहधर्मिणी मैत्रेयीके प्रेमको इसी प्रकार भक्ति पथसे हटाकर मैत्रीमें लगा दिया था। उनका प्रेम ऋषिपूत हुआ था। स्वयं याज्ञवल्क्यने ही संसारमें ऋषित्व लाभ नहीं किया था बल्कि अपनी पत्नीको भी ऋषि भावमें ला रक्खा था।

देव-संसार

हिन्दुओंके देवता देवी भी संसारी ही हैं। वह सारा संसार ही उनका घर है—संसारका कृत्य ही उनका गृहधर्म

है। एक ही ब्रह्म दो होकर ईश्वर और ईश्वरी हुआ है। वही सगुण निर्गुण हुआ है और वही निर्लिप्त होकर संसारमें लिप्त हुआ है। इसीसे ऋग्वेदमें कहा है कि त्रिपाद विराट् पुरुष एक पादसे संसारमें लिप्त हुआ है। महेश्वर संसारी और सन्यासी हैं। भगवती संसारिणी और त्रैलोक्यतारिणी महा प्रेममयी वैष्णवी हैं। उसी संसारतारिणीके रूपमें भगवती महिषमर्दिनी हैं। महिषमर्दिनीका क्या अर्थ है? महिषासुर आधा मनुष्य और आधा पशु था। भगवतीने मनुष्यके उस पशुत्व-भावको ही नष्ट किया था। देवबल पशुबलका संहारक है। पशुबलके निकट भगवती अपराजिता हैं। वही अपराजिता जगत्‌रक्षिणी वैष्णवी शक्ति इस संसारके पाप नष्ट करनेवाली है। इस संसारके व्यापारमें शिवकी प्रेरणासे भगवती लगी हुई हैं, और महाशक्तिरूपिणी होकर अवतीर्ण हुई थी। इसीमें लिखा है—

'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता"

उसी शक्तिमें निरत महादेव निर्लिप्त संसारी हैं। उनका संसार निष्काम पवित्र क्षेत्र है। ये विश्वपति ही हिन्दूके आदर्श पति हैं। हिन्दू आदर्श पतिको संसारी होकर देवत्व लाभ करना चाहिए।

गुरुजन-सेवा।

देवत्व कैसे लाभ किया जा सकता है? पहले ही कह आये हैं कि हिन्दूका घर एक महान् धर्मक्षेत्र है। यह धर्मक्षेत्र ही देवत्व लाभ करनेकी प्रशस्त भूमि है। इस हिन्दू

संसारमें पति-पत्नी अकेले नहीं है। वे चारों ओरसे अपने आत्मीय, स्वजन, कुटुम्ब और गुरुजनोंसे घिर हुए हैं। पड़ोसी, अतिथि, पशु, पक्षी, सभी इसी हिन्दू संसारमें हैं। यह बड़ा भारी संसार है। यह यूरोपवालोंका केवल पतिपत्नीका संसार नहीं है। हिन्दू संसारमें जितने आश्रित जन हैं वे सभी गृहस्वामीके प्रेमपात्र हैं। उसके प्रेमके सभी अभिलाषी हैं। उनको बाँटकर अपना प्रेम सभीको देना होगा, कोई इससे वंचित नहीं होगा। वे केवल अपने पुत्र कलत्रको ही अपने प्रेमके पात्र बनावें, ऐसा नहीं हो सकता। अपने स्त्रीपुत्रका पालन-पोषण कौन नहीं करता? यह तो पशु भी करता है। हिन्दू गृहपतिको मध्यस्थ ही रहना चाहिए। एक ओर उसको पुत्र कलत्र अपने अपार स्नेहसे बाँधे रखते हैं और दूसरी ओर बुड्ढे माँ बाप और गुरुजन उसके सामने वर्तमान रहते हैं। केवल पुत्र कलत्रमें फँसकर पिता माता और गुरुजनोंकी उपेक्षा करना महा मूर्खता है। हिन्दुओंकी दृष्टिमें ऐसा कार्य बड़ा ही घृणित समझा जाता है। स्नेह नीचगामी और भक्ति ऊर्द्ध्वगामिनी है। मिल्टनने कहा है कि मनुष्यके लिये ऊपर उठना जितना कठिन है उतना ही सहज उसके लिये नीचे गिरना है। हिन्दू गृहस्वामीको ऊपर ही देखना चाहिए। यह यूरोपीय समाज नहीं है। यहाँ गुरु केवल गिरजाघरमें ही है। पिता माता बहुत परे रहते हैं। ऐसा भी होता है कि पुत्रकी गृहस्थीसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। वे अपनी घर-गृहस्थी स्वतन्त्र रखते हैं। हो सकता है कि बाप मर गया हो और माता किसी दूसरे पतिके आश्रयमें रहती हो। गृहपति अपने पुत्र कलत्रको ही लेकर

है। एक ही ब्रह्म दो होकर ईश्वर और ईश्वरी हुआ है। सगुण निर्गुण हुआ है और वही निर्लिप्त होकर सस लिप्त हुआ है। इसीसे ऋग्वेदमें कहा है कि त्रिपाद वि पुरुप एक पादसे ससारमें लिप्त हुआ है। महेश्वर सर और सन्यासी हैं। भगवती ससारिणी और त्रैलोक्यतारि महा प्रेममयी वैष्णवी हैं। उसी ससारतारिणीके रू भगवती महिषमर्दिनी हैं। महिपमर्दिनीका क्या अर्थ है महिषासुर आधा मनुष्य और आधा पशु था। भगवत मनुष्यके उस पशुत्व-भावको ही नष्ट किया था। देव: पशुवलका सहारक है। पशुवलके निकट भगवती अपराजि है। यही अपराजिता जगत्‌रक्षिणी वैष्णवी शक्ति इस ससार पाप नष्ट करनेवाली है। इस ससारके व्यापारमें शिवकी प्रेरण से भगवती लगी हुई है, और महाशक्ति रूपिणी होकर अ तीर्ण हुई थी। इसीसे लिखा है—

'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण सस्थिता"

उसी शक्तिमें निरत महादेव निर्लिप्त ससारी हैं। उनक ससार निष्काम पवित्र क्षेत्र है। ये विश्वपति ही हिन्दूके आदर्श पति हैं। हिन्दू आदर्श पतिको ससारी होकर देवत्व लाभ करना चाहिए।

गुरुजन-सेवा

देवत्व कैसे लाभ किया जा सकता है? पहले ही कह आये हैं कि हिन्दूका घर एक महान् धर्मक्षेत्र है। यह धर्म क्षेत्र ही देवत्व लाभ करनेकी प्रशस्त भूमि है। इस हिन्दू

ससारमे पति पत्नी अकेले नहीं हैं । वे चारो ओरसे अपने आत्मीय, स्वजन, कुटुम्ब और गुरुजनोंमे घिर हुए हैं। पड़ोसी, अतिथि, पशु, पक्षी, सभी इसी हिन्दू ससारमें हैं । यह बड़ा भारी ससार है। यह यूरोपवालोंका केवल पतिपत्नीका ससार नहीं है। हिन्दू ससारमें जितने आश्रित जन हैं वे सभी गृहस्वामीके प्रेमपात्र हैं । उसके प्रेमके सभी अभिलाषी हैं । उनको बाँटकर अपना प्रेम सभीको देना होगा, कोई इससे वञ्चित नहीं होगा । वे केवल अपने पुत्र कलत्रको ही अपने प्रेमके पात्र बनावे, ऐसा नहीं हो सकता । अपने स्त्रीपुत्रका पालन-पोषण कौन नहीं करता? यह तो पशु भी करता है । हिन्दू गृहपतिको मध्यस्थ ही रहना चाहिए । एक ओर उसको पुत्र कलत्र अपने अपार स्नेहसे बाँधे रखते हैं और दूसरी ओर बुड्ढे माँ बाप और गुरुजन उसके सामने वर्तमान रहते हैं। केवल पुत्र कलत्रमें फँसकर पिता माता और गुरुजनोंकी उपेक्षा करना महा मूर्खता है । हिन्दुओंकी दृष्टिमें ऐसा कार्य बड़ा ही घृणित समझा जाता है । स्नेह नीचगामी और भक्ति ऊर्ध्वगामिनी है । मिल्टनने कहा है कि मनुष्यके लिये ऊपर उठना जितना कठिन है उतना ही सहज उसके लिये नीचे गिरना है। हिन्दू गृहस्वामीको ऊपर ही देखना चाहिए । यह यूरोपीय समाज नहीं है । यहाँ गुरु केवल गिरजाघरमें ही है । पिता-माता बहुत परे रहते हैं । ऐसा भी होता है कि पुत्रकी गृहस्थीसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता । वे अपनी घर-गृहस्थी स्वतन्त्र रखते हैं । हो सकता है कि बाप मर गया हो और माता किसी दूसरे पतिके आश्रयमें रहती हो । गृहपति अपने पुत्र कलत्रको ही लेकर

दान-धर्म

प्रेम जैसे गुरुजनोंकी सेवासे प्रकट होता है वैसे ही दान धर्ममें भी प्रकाशित होता है। आर्य साहित्यमें दानधर्मका माहात्म्य खूब गाया गया है। अनेक प्रकारके दान देनेसे गृहस्थके प्रशस्त हृदयमें उदारताका समावेश होता है। अतिथि-सेवासे गृहस्थ पुण्यात्मा होता है। युधिष्ठिरका उदार मन इस दानका माहात्म्य सुननेके लिये सदा उत्सुक रहा करता था। उन्होंने बहुत बार ऋषियों और ब्राह्मणोंसे दान माहात्म्य कहनेका अनुरोध किया है। दान-माहात्म्य सुनकर परमानन्द प्राप्त किया है। इस प्रकारका आनन्द किसके मनमें हो सकता है? जो दाता नहीं है उसका मन दान-माहात्म्य सुननेमें न लगेगा। वह दान-माहात्म्य सुननेको लालायित न रहेगा। इसीसे युधिष्ठिरने कहा है कि प्राणियोंकी रक्षा करना ही दान है। दानका ऐसा उदार लक्षण किस नीति-शास्त्रमें है? प्राचीन आर्योंके घर ऐसे ही विश्वव्यापी पवित्र दानके क्षेत्र बने हुए थे। उन्हीं दान क्षेत्रोंके बहुतसे पवित्र चित्र हमारे साहित्यमें चित्रित हैं– [illegible] उदार अनुष्ठानके कितने ही चित्र चित्रित किये

हिन्दू समाजमें वर्तमान है । वह भाव एकदम नष्ट हो गया है, यह कोई नहीं कह सकता । प्राचीन हिन्दू संसारका जो कुछ अब बच रहा है, उससे मूल सांसारिक नियम नष्ट नहीं हुआ है । पहले जैसे स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार, पड़ोसी, अतिथि, दास-दासी, पशु-पक्षी आदि सब कुछ थे, वैसे ही आज भी वे हिन्दू संसारमें वर्तमान हैं । सभी हिन्दूके प्रेमाभिलाषी हैं । पूर्णत न हो, पर उन्हें आज भी आंशिक रूपमें गार्हस्थ्य धर्म निबाहना ही पड़ता है । इस धर्मको निबाहनेमें जैसी श्रद्धा, भक्ति, प्रीति और ममता देखी जाती है, उससे आपही आप क्षमाका अभ्यास होता जाता है । क्योंकि क्षमाशील हुए बिना गृहस्थी नहीं चल सकती । इस गृहस्थीमें आदर सभीका है । इस आदरके कारण बहुतोंको बहुत बार विचलित होना पड़ा है । गृहस्वामीको उनकी त्रुटियोंको क्षमा करना होगा । बिना क्षमा किये, स्त्री, पुत्र, पिता, माता, गुरु, पुरोहित, अतिथि, मित्र, पशु, पक्षी, किसीका आदर नहीं हो सकता । आदर न होनेके कारण कोई प्रेमके वशीभूत नहीं होता। आदर न होनेसे अपने प्रेमकी प्रवृत्ति भी नहीं बढ़ती । इसी आदरके कारण प्रेमपात्रका दोष नहीं गिना जाता । हिन्दू गृहस्वामीके प्रेम, श्रद्धा, दया और भक्ति उन्हें पक्षपाती बना डालते हैं । वे पक्षपाती होते है संसारके प्रति भी और विश्वव्यापी भगवानके प्रति भी । हिन् संसारके समान क्षमा राज्य और कहीं नहीं है ।

वही क्षमा रामचन्द्रमें देखो । कैकेयीने उनका क्या न किया ? कैकेयी उनके वनवासका केवल कारण ही नहीं हुई वह एक प्रकारसे पितृघातिनी भी थी । राम-वनवासके स

दान-धर्म

प्रेम जैसे गुरुजनोंकी सेवामें प्रकट होता है वैसे ही दान-धर्ममें भी प्रकाशित होता है। आर्य साहित्यमें दानधर्मका माहात्म्य खूब गाया गया है। अनेक प्रकारके दान देनेसे गृहस्थके प्रशस्त हृदयमें उदारताका समावेश होता है। अतिथि-सेवासे गृहस्थ पुण्यात्मा होता है। युधिष्ठिरका उदार मन इस दानका माहात्म्य सुननेके लिये सदा उत्सुक रहा करता था। उन्होंने बहुत बार ऋषियों और ब्राह्मणोंसे दान माहात्म्य कहनेका अनुरोध किया है। दान-माहात्म्य सुनकर परमानन्द प्राप्त किया है। इस प्रकारका आनन्द किसके मनमें हो सकता है? जो दाता नहीं है उसका मन दान-माहात्म्य सुननेमें न लगेगा। वह दान-माहात्म्य सुननेको लालायित न रहेगा। इसीसे युधिष्ठिरने कहा है कि प्राणियोंकी रक्षा करना ही दान है। दानका ऐसा उदार लक्षण किस नीति-शास्त्रमें है? प्राचीन आर्योंके घर ऐसे ही विश्वव्यापी पवित्र दानके क्षेत्र बने हुए थे। उन्हीं दान-क्षेत्रोंके बहुतसे पवित्र चित्र हमारे साहित्यमें चित्रित हैं—अतिथि-सेवाके उदार अनुष्ठानके कितने ही चित्र चित्रित किये गये हैं।

क्षमा

पहले गृहस्थका प्रेम अपने गृह-धर्म द्वारा फैलकर किस प्रकार विश्वव्यापी हो जाता था, इसका यहाँ बहुत कुछ वर्णन हुआ है; और वह भली भाँति समझमें आ गया होगा। पहलेके हिन्दू समाजका जो भाव था वह अब भी न्यूनाधिक रूपमें

हिन्दू समाजमें वर्तमान है । वह भाव एकदम नष्ट हो गया है, यह कोई नहीं कह सकता । प्राचीन हिन्दू ससारका जो कुछ अन बच रहा है, उससे मूल सासारिक नियम नष्ट नहीं हुआ है । पहले जैसे स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार, पड़ोसी, अतिथि, दास-दासी, पशु-पक्षी आदि सब कुछ थे, वैसे ही आज भी वे हिन्दू ससारमें वर्तमान हैं । सभी हिन्दूके प्रेमाभिलाषी हैं । पूर्णतः न हो, पर उन्हें आज भी आंशिक रूपमें गार्हस्थ्य धर्म निबाहना ही पड़ता है । इस धर्मको निबाहनेमें जैसी श्रद्धा, भक्ति, प्रीति और ममता देखी जाती है, उससे आपही आप क्षमाका अभ्यास होता जाता है । क्योंकि क्षमाशील हुए बिना गृहस्थी नहीं चल सकती । इस गृहस्थीमें आदर सभीका है । इस आदरके कारण बहुतोंको बहुत बार विचलित होना पड़ा है । गृहस्वामीको उनकी त्रुटियोंको क्षमा करना होगा । बिना क्षमा किये, स्त्री, पुत्र, पिता, माता, गुरु, पुरोहित, अतिथि, मित्र, पशु, पक्षी, किसीका आदर नहीं हो सकता । आदर न होनेके कारण कोई प्रेमके वशीभूत नहीं होता। आदर न होनेसे अपने प्रेमकी प्रवृत्ति भी नहीं बढती । इसी आदरके कारण प्रेमपात्रका दोष नहीं गिना जाता । हिन्दू गृहस्वामीके प्रेम, श्रद्धा, दया और भक्ति उन्हें पक्षपाती बना डालते हैं । वे पक्षपाती होते हैं— ससारके प्रति भी और विश्वव्यापी भगवानके प्रति भी । हिन्दू ससारके समान क्षमा राज्य और कहीं नहीं है ।

यही क्षमा रामचन्द्रमें देखो । कैकेयीने उनका क्या नहीं किया ? कैकेयी उनके वनवासका केवल कारण ही नहीं हुई थी, वह एक प्रकारसे पितृघातिनी भी थी । राम-वनवासके समय

दान-धर्म

प्रेम जैसे गुरुजनोंकी सेवामें प्रकट होता है वैसे ही दान-धर्ममें भी प्रकाशित होता है। आर्य साहित्यमें दानधर्मका माहात्म्य खूब गाया गया है। अनेक प्रकारके दान देनेसे गृहस्थके प्रशस्त हृदयमें उदारताका समावेश होता है। अतिथि-सेवासे गृहस्थ पुण्यात्मा होता है। युधिष्ठिरका उदार मन इस दानका माहात्म्य सुननेके लिये सदा उत्सुक रहा करता था। उन्होंने बहुत बार ऋषियों और ब्राह्मणोंसे दान माहात्म्य कहनेका अनुरोध किया है। दान-माहात्म्य सुनकर परमानन्द प्राप्त किया है। इस प्रकारका आनन्द किसके मनमें हो सकता है? जो दाता नहीं है उसका मन दान-माहात्म्य सुननेमें न लगेगा। वह दान-माहात्म्य सुननेको लालायित न रहेगा। इसीसे युधिष्ठिरने कहा है कि प्राणियोंकी रक्षा करना ही दान है। दानका ऐसा उदार लक्षण किस नीति-शास्त्रमें है? प्राचीन आर्योंके घर ऐसे ही विश्वव्यापी पवित्र दानके क्षेत्र बने हुए थे। उन्हीं दान-क्षेत्रोंके बहुतसे पवित्र चित्र हमारे साहित्यमें चित्रित हैं—अतिथि-सेवाके उदार अनुष्ठानके कितने ही चित्र चित्रित किये गये हैं।

क्षमा

पहले गृहस्थका प्रेम अपने गृह-धर्म द्वारा फैलकर किस प्रकार विश्वव्यापी हो जाता था, इसका यहाँ बहुत कुछ वर्णन हुआ है, और वह भली भाँति समझमें आ गया होगा। पहलेके हिन्दू समाजका जो भाव था वह अब भी न्यूनाधिक रूपसे

हिन्दू समाजमें क्षमा अलौकिक धर्म नहीं माना जाता। वह मनुष्य धर्मका एकाङ्ग मात्र है। मनु महाराजने लिखा है-
धृति, क्षमा, दम (विषयमें मन न लगाना) अस्तेय (चोरी न करना) शौच (पवित्रता) इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोकना) धी (सदेह दूर करनेवाली बुद्धि) विद्या (आत्मज्ञान) सत्य और अक्रोध—यही धर्मके दस लक्षण हैं।
पहले सभी, विशेषत ब्राह्मण, इन दस गुणोंसे भूषित होते थे। आज भी जहाँ हिन्दू गृहमें नवीन सभ्यताने प्रवेश नहीं किया है, वहाँ क्षमा ही उनका यथार्थ बन्धन है। किन्तु यूरोपीय समाजकी शिक्षा-प्रणाली और समाज-सगठन स्वतन्त्र है, इससे वहाँ क्षमाका वैसा स्थान नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि वहाँका नीतिशास्त्र भी लौकिक धर्ममें इसकी गणना नहीं करता। देखिये, वहाँकी नीति क्या कहती है—
"To err is human, to forgive is divine".
भगवान् मनुने जिस क्षमाको दशविध मानव धर्मोंमें परिगणित किया है, वह विलायती नीतिमें मानव धर्म नहीं है, देवधर्म है। स्वय ईश्वरावतार ईसा ही केवल मृत्युकालमें यह कह सके थे—पिता, मेरे इन हत्याकारियोंको क्षमा करना, क्योंकि ये क्या कहते हैं, इसका ज्ञान इन्हें नहीं है।
इसीसे विलायती साहित्यमें क्षमागुणभूषित लोकचरित्र अत्यन्त दुर्लभ हैं। शेक्सपियरने पोर्शिया और इसाबेलाके मुखसे देवोपम क्षमाका गौरव उद्घोषित कराया है, पर वह कुछ कालके लिये ही मनको मोहित कर सकता है, वह कल्पना उत्कृष्ट नहीं कर सकता। कल्पनाको हृदयग्राही

दशरथ जिस विषाद-सागरमें डूबे, फिर उससे नहीं निकले। उनकी अकाल मृत्यु हुई। फिर कहो तो कैकेयीने क्या नहीं किया? किन्तु क्षमाशील रामचन्द्रने चुपचाप सब कुछ सहा, पर कैकेयीके अपराधका कुछ खयाल नहीं किया। क्षमाके कारण रामचन्द्रके हृदयमें सदा शान्ति विराजती थी। उन्होंने कभी कैकेयीको कटु वाक्य नहीं कहा। लक्ष्मणने जब रामचन्द्रको कैकेयीके विरुद्ध उभाड़ा तब उन्होंने लक्ष्मणको ही भला बुरा कहा। रामका यह शान्त स्वभाव सदा अचञ्चल रहा। ऐसा अक्रोध और क्षमा-गुण कभी किसीने देखा है? ऐसी ही क्षमा युधिष्ठिरकी भी थी। पुत्र-प्रेमसे अन्धे होकर धृतराष्ट्रने पितृहीन पाण्डवोंके साथ ऐसा ऐसा अत्याचार किया जो कभी किसीको नहीं करना चाहिए। पर युधिष्ठिरने कभी कुछ कहा? कभी उनके व्यवहारमें कुछ अन्तर आया? उन्होंने सब कुछ सहकर भी धृतराष्ट्रको क्षमा किया—देवताकी सी उनकी सेवा की। महाराज शान्तनु अत्यन्त धीर, सत्यवादी, दानशील और क्षमाशील थे। श्रीकृष्णने शिशुपालको जिस प्रकार क्षमा किया था, वह सबपर विदित है। आर्य पुरुष ही केवल ऐसे क्षमाशील नहीं थे, आर्य नारियाँ भी वैसी ही क्षमाशीला थीं। पञ्चपुत्रहन्ता अश्वत्थामा जब द्रौपदीके निकट लाया गया तब उसने उनपर कैसी क्षमा दिखलाई थी, यह हम पहले ही दिखला चुके हैं। राजा सौदास जब वशिष्ठको शाप देनेको उद्यत हुए तब उनकी क्षमावती स्त्रीने किस प्रकार उत्तेजित होकर उन्हें निवारण किया था, इसका वर्णन वाल्मीकिने शब्दमसे किया है।

और एकदेशदर्शिताका पूरा परिचय मिलता है। यहूदीके विपक्ष-में ईसाई जैसे दलबद्ध हुए थे, वैसे शाइलाकके पक्षमें यहूदी कहाँ दलबद्ध हुए थे? नाटकमें उस यहूदी दलका चित्र कहाँ है? क्या दलबद्ध यहूदियोंने शाइलाकको एक वकील रखनेका परामर्श नहीं दिया? नाटकमें वैसाही एक वकील शाइलाकके पक्षमें नहीं रक्खा जा सकता था? वह वकील पोर्शियाके मुखसे दयाकी बात सुनकर क्या कहता? वह यह नहीं कहता कि—"तुम ईसाई हो, तुम नृशंस होकर सदा यहूदियो-को पीडित करते रहे हो। आज एक दिनके लिये हमारा उत्पीडन कैसा मालूम हो रहा है? हम वर्षों तक सहते रहे और तुम एक दिन भी नहीं सह सकते? बारहो महीने एन्टोनी शाइलाकको घृणाकी दृष्टिसे देखता था और उसे गाली देता आया और आज भी दे रहा है। यहूदियोंके प्रति ईसाइयोंकी सदा घृणा बनी रही। इसीसे ईसाई समाजमें सर्वत्र यहूदियोंका उत्पीडन दिखाई पड़ता है। फिर कहिये वकील साहब, आज मीठी मीठी दयाकी बातें क्यों कह रहे हैं? ईसाइयोंने कभी ऐसी दया यहूदियोंपर दिखलाई है? यदि यह बात नहीं है तो फिर यहूदियोंसे दयाकी आशा कैसी? हमारी जातिमें क्या दया नहीं है? तुम्हारे दयाके व्यवहार हमें भली भाँति मालूम हैं। उसी दयाकी बात जब तुम्हारे मुखसे सुनते हैं तब हमें विडम्बना मालूम होती है।" वस्तुत क्या हम शाइलाकके अमर्ष चित्रमें एन्टोनीकी घृणाका प्रतिबिम्ब नहीं देखते? शाइलाक क्यों ऐसा हुआ? शाइलाक क्या ईसाई समाजके उत्पीडनका फल नहीं है? जिन ईसाइयोंने यहूदियोंको इतना

क्षमाको लोक चरित्रमें चित्रित करके दिखलाना चाहिए। धन-लोभी शाइलाकके चरित्रमें जैसे सूदखोरी, निर्दयता, विचार-प्रियता आदि चित्रित है, एञ्जिलाके चरित्रमे जैसे दण्डनीतिका कठोर नियम-पालन अङ्कित हुआ है, उसी प्रकारके लोकचरित्र में शेक्सपियरने क्षमाको कहीं चित्रित किया है ? शाइलाककी भीषण क्रूरता और निर्दयता चित्रित करनेके समय पोर्शियाकी वक्तृता बहुत मीठी मालूम होती है सही, किन्तु वह क्षणिक है। उसके बाद वह रस नहीं रहता। पहला वेग रुक जानेके बाद जब पाठक स्थिर चित्तसे सब बातें विचारने लगते हैं, तब उनके मनमें यही बात उठती है कि शेक्सपियरने आज एक घृणित यहूदीको और घृणित करनेके लिये ईसाईके मुख-से क्षमाकी बात कहलाई है। पर यह क्षमा कभी ईसाईयोंने भी यहूदियोंपर दिखलाई थी ? यदि ऐसी क्षमा दिखलाई होती तो शाइलाक इतना क्रोध ही क्यों करता ? शाइलाक रुपया वसूल करनेकी नीयतसे तो आया ही नहीं था। वह तो ईसाइयोंके जोर-जुल्म और क्रूर अत्याचारसे पीडित यहूदी जातिके क्रोधका बदला चुकाने आया था। ईसाइयोंका पक्ष समर्थन करनेके लिये जैसे पोर्शिया खड़ी की गई थी, वैसे नाटकमें यहूदियोंकी ओरसे पक्षसमर्थन करनेके लिये कोई वकील कहाँ खडा किया गया ? यदि इस नाटकको कोई यहूदी कवि लिखता तो घटनाचक्र उलटा ही हो जाता। "वेनिसका बाँका" वा "दुर्लभ बन्धु" मनुष्यलिखित सिंहका चित्र है, ईसाई कवि लिखित यहूदीका घृणार्ह चित्र है। शाइलाकका विचार ईसाईयोंकी अदालतमें हुआ था। इससे इस चित्रमें पक्षपात

और एकदेशदर्शिताका पूरा परिचय मिलता है। यहूदीके विपक्ष-में ईसाई जैसे दलबद्ध हुए थे, वैसे शाइलाकके पक्षमें यहूदी कहाँ दलबद्ध हुए थे ? नाटकमें उस यहूदी दलका चित्र कहाँ है ? क्या दलबद्ध यहूदियोंने शाइलाकको एक वकील रखनेका परामर्श नहीं दिया ? नाटकमें वैसाही एक वकील शाइलाकके पक्षमें नहीं रक्खा जा सकता था ? वह वकील पोर्शियाके मुखसे दयाकी बात सुनकर क्या कहता ? वह यह नहीं कहता कि—"तुम ईसाई हो, तुम नृशंस होकर सदा यहूदियों-को पीडित करते रहे हो। आज एक दिनके लिये हमारा उत्पीडन कैसा मालूम हो रहा है ? हम वर्षों तक सहते रहे और तुम एक दिन भी नहीं सह सकते ? बारहो महीने एन्टोनी शाइलाकको घृणाकी दृष्टिसे देखता था और उसे गाली देता आया और आज भी दे रहा है। यहूदियोंके प्रति ईसाइयोंकी सदा घृणा बनी रही। इसीसे ईसाई समाजमें सर्वत्र यहूदियोंका उत्पीडन दिखाई पड़ता है। फिर कहिये वकील साहब, आज मीठी मीठी दयाकी बातें क्यों कह रहे हैं ? ईसाइयोंने कभी ऐसी दया यहूदियोंपर दिखलाई है ? यदि यह बात नहीं है तो फिर यहूदियोंसे दयाकी आशा कैसी ? हमारी जातिमें क्या दया नहीं है ? तुम्हारे दयाके व्यवहार हमें भली भाँति मालूम हैं। उसी दयाकी बात जब तुम्हारे मुखसे सुनते हैं तब हमें विडम्बना मालूम होती है।" वस्तुतः क्या हम शाइलाकके अमर्ष चित्रमें एन्टोनीकी घृणाका प्रतिबिम्ब नहीं देखते ? शाइलाक क्यों ऐसा हुआ ? शाइलाक क्या ईसाई समाजके उत्पीड़नका फल नहीं है ? जिन ईसाइयोंने यहूदियोंको इतना

सताया, उनके मुखसे दयाकी बात सुनकर यहूदियोंको कैसा मालूम होगा ? ईसाई कविकी कल्पनासे नाटकमें एन्टोनी तो मारा नहीं गया, बल्कि शाइलाकके ही मरनेकी नौबत आई। उलटे लेनेके देने पड़े। अन्तमें ड्यूकने दया करके शाइलाककी जान बख्श दी और उसकी सम्पत्ति जब्त करनेका हुक्म दे दिया ! यहूदीने ईसाई अदालतमें आकर अच्छा फल पाया !

इसीसे मालूम होता है कि पोर्शियाके मुखसे जो क्षमाकी बात निकलती है, वह तीन कारणोंसे नष्ट हो जाती है। (१) क्षमाका कोई चित्र अङ्कित न होनेके कारण कल्पनामें उसका स्थान नहीं है। (२) प्रसङ्गतः शाइलाकके पक्षमें जो बातें मनमें बैठती हैं, उनके कारण पोर्शियाके मुखसे क्षमाकी बातें शोभा नहीं देतीं। और (३) विचारके अन्तमें शाइलाकके प्रति ईसाइयोंका निर्दय व्यवहार हुआ। वस्तुतः क्षमाको प्रबल बनाना कवि-कल्पनाका उद्देश्य नहीं है। आदमी अपनी करनीसे आप कैसे फँसता है, इसी बातको दिखलाना कविकी कल्पनाका उद्देश्य प्रतीत होता है। यह उद्देश्य यथेष्ट सिद्ध हुआ है।

अक्रोध और अहिंसा

क्रोध न रोकनेसे क्षमाका उद्वेग नहीं होता। स्नेह, ममता और प्रेम फैलानेसे क्रोध आपही आप रुकता है। प्रेम क्रोधकी महौषधि है। प्रेमवारिसे क्रोधाग्नि आप ही आप बुझ जाती है। इसीसे हिन्दूका घर अक्रोधका अभ्यास करनेका प्रधान क्षेत्र है। यह ऋषि-प्रतिष्ठित क्षेत्र देवत्व लाभ

प्रधान अवलम्बन है । देवत्व कैसे प्राप्त होता है, इसके सम्बन्ध-
में महाभारतमें लिखा है—

तत्र वै मानुषाल्लोकाद्दानादिभिरतन्द्रित ॥
अहिंसार्थसमायुक्ते कारणै स्वर्गमश्नुते ॥ वन पर्व ।

"निरालस होकर अहिंसा और दान आदि करनेसे नर
लोकसे मुक्त होता है और स्वर्गलोक पाता है" ।

इसीसे देखा जाता है कि गृहस्थ निरालस होकर दान-
धर्म करता है और अक्रोध तथा क्षमाका पात्र होता है । इसी
प्रकार धीरे धीरे हृदयमें अहिंसाका सञ्चार होता है । जो
अहिंसाके लिये सदा यत्नशील रहते हैं, उनका हिंसा दोप
क्रमश कम होता जाता है । प्रेमके सामान्य प्रसारसे अहिंसा
का उदय नहीं होता । दूसरेके सुखसे प्रेम सुखी होता है ।
हिंसा केवल अपनाही सुख चाहती है । परार्थपर प्रेम जितना
गाढा होता है, उतनाही स्वार्थपर हिंसासे सकोच होता है ।
जब यही प्रेम विश्वव्यापी होकर समदर्शिताका भाव पैदा कर
देता है तब हिंसाका भय नहीं रहता । याज्ञवल्क्यने इस प्रकार
जब समदर्शिता प्राप्त की थी तब उन्होंने मैत्रेयीसे कहा था—

"वस्तुत ससारसे प्रेम होनेके कारण ही वह तुम्हारा प्यारा
नहीं है, तुम जो आत्माको प्यार करता हो, इसीसे ससार तुम्हें
प्रिय है" ।

इस प्रकार कहकर वे ससाराश्रमसे विदा हो गये थे और
वनमे जा बसे थे , क्योंकि उस समय स्वर्ग उनके हाथमें
आ गया था और वे नरलोकसे मुक्ति पा चुके थे । उस समय
उन्होंने ब्रह्मप्राप्तिके लिये सन्या[illegible] किया ।

आर्य साहित्यमें अहिंसाकी प्रशंसा शत मुखसे की गई है। श्रीकृष्णके चरित्रमें यह परम धर्म खूब उज्ज्वल रूपसे प्रकट किया गया है। भीष्म, विदुर आदि हिंसाहीन थे। शुक और नारद आदि ऋषिचरित्रोंमे इस अहिंसाका प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। वस्तुत अहिंसा ही हिन्दुओंका प्रधान धर्म है। इस अहिंसासे हिन्दुओंकी प्रकृति क्रमश कोमलसे कोमलतर और नम्रसे नम्रतर होती जाती है। अहिंसा हिन्दुओंको क्षमाशील करके शान्तिनिकेतन तक पहुँचा देती है। बुद्धदेव इसी शान्ति-मय अहिंसाके अवतार थे। हिन्दू धर्मने उन्हें अहिंसाकी शिक्षा दी थी। बौद्ध और जैन इसी महामन्त्रको लेकर शान्तिस्थापन-में समर्थ हुए थे। केवल ईसाई समाजमें इस अहिंसा धर्मका उतना आदर नहीं देख पडता। इसीसे विलायती साहित्यमें अहिंसाके चित्र विरले ही देख पडते हैं। उसी साहित्यमें न्याय परताका जैसी उग्र मूर्ति देख पडती है, क्षमाकी वैसी प्रशस्त मूर्ति नहीं देख पडती। यह भी कहा जा सकता है कि उसमें अहिंसा का चित्र नहीं है। आर्य्य साहित्यमें भी सर्वत्र दण्डनीतिके भयानक चित्र देख पड़ते हैं। धर्मक्रोधके कारण पापके कठिनसे कठिन दण्डविधान कहाँ नहीं हैं? किन्तु उसके निकट ही क्षमा और पुण्यकी भी ज्योति छिटकी रहती है।

स्वर्ग

श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, क्षमा, अक्रोध और अहिंसाके देवादर्शोंसे हमारा आर्य साहित्य परिपूर्ण है। सब देवताओंका निवास-स्थान स्वर्ग है—स्वर्ग सुखका घर है। आर्य साहित्यमें वर्णित

विषय और कठिन पार्वत्य प्रदेश द्वारा उस स्वर्गमें पहुँचना होता है । ऊपर पहुँचनेकी प्रवृत्ति जब श्रद्धा भक्तिमें परिणत होकर उन्नत होती है तब स्वर्गमें पहुँचना सहज होता है । गृहस्थ आर्य सदा स्वर्गकी ओर देखा करते हैं—स्नेह ममताकी निम्न भूमिमें खड़े होकर ऊपर गुरुजनोंकी ओर भक्तिसे देखते हैं । देवता उनकी दृष्टि अपनी ओर खींचते हैं । आर्य कवियोंने देवताओंको मूर्तिमान बनाकर सर्वत्र ही चित्रित किया है । लक्ष्मी माधुरीमयी स्वर्णप्रतिमा है । वेदमाता सरस्वती पवित्रतामयी और श्वेतवर्ण मोहिनी मूर्ति हैं । भगवती असुरविजयिनी, दशभुजा और शक्तिरूपिणी हैं । संसारकी उत्पत्तिके कारणभूत देवता सूर्य हैं । संसारको घेरे हुए वरुण देव हैं । सब तेजोंके आधार अग्नि हैं । वायु जगत्का जीवन है । एक भगवान् ही इन समस्त रूपोंसे वर्तमान हैं । एक अनन्त देव ही अनन्त विभूतिके साथ स्वर्गमें विराजमान हैं । उनकी अनन्त विभूतिका स्वतन्त्र विकाश न देखनेसे उस अनन्त देवकी क्या धारणा हो सकती है ? स्वतन्त्र स्वतन्त्र विभूतिके विकाशसे ही वे अनन्त देव ब्रह्माण्डमें ओत प्रोत भरे हुए हैं । मनुष्यकी दृष्टिमें वह विश्वव्यापी हैं । सामान्य ज्ञान-दृष्टिसे मनुष्य उस अनन्त देवकी धारणा नहीं कर सकता । किन्तु स्वतन्त्र स्वतन्त्र विभूतिकी अनन्त मूर्ति ब्रह्माण्डमें देखकर उन्हें अनन्तरूप समझता है । अर्जुनको इसी विश्वरूपी अनन्त विभूतिका परिचय मिला था । आर्य कवियोंने इसी देवादर्शको लेकर अपने काव्यका अनन्त सौन्दर्य दिखलाया है । आर्योंके नेत्रोंमें वही देवादर्श सदा सोते, जागते,

उठते, बैठते वर्तमान रहता है। आर्यगण दिन-रात उन्हीं देवताओंकी पूजा किया करते हैं। वे उनकी मोहिनी शक्तिके वशीभूत रहते हैं—स्वर्गकी ओर देखा करते हैं। उसी स्वर्गकी ओर देखकर रणवीर युद्धमें प्राण देनेके लिये आगे बढ़ते हैं। कौरव और पाण्डव उसी स्वर्गकी ओर देखते हुए घोर संग्राममें प्रवृत्त हुए थे। माद्री पतिके साथ चितामें जल गई थी। बलि पातालमें पैठे थे। शिविने अकातर होकर अपने अङ्गको टुकड़े टुकड़े कर डाला था। वृहदर्भकने क्रोधहीन होकर अपने पुत्रको ब्राह्मण-सेवाके लिये बलि दे दिया था। स्वर्गमें देवताओंकी सभा कैसी है, इसका वर्णन नारदने युधिष्ठिरसे विस्तारके साथ किया है। इन्द्र, यम, वरुण, ब्रह्मा और कुबेरका ऐश्वर्य उसमें खूब ही जाज्वल्यमान दिखलाई पड़ता है। जो देवराज हैं, उन्होंने किस प्रकार स्वर्गकी प्रधानता पाई है? महाभारतमें लिखा है कि अतुल पराक्रमी देवराज इन्द्रने देवताओंमें प्रधानता पानेकी लालसासे ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया था। बिना जितेन्द्रिय हुए देवत्व लाभ करनेका कोई उपाय ही नहीं है। आसुरिक प्रबलता दबाकर जितेन्द्रिय और संयत हुए बिना स्वर्ग नहीं मिलता।

प्राणप्रतिष्ठित देवता

हमारे आर्य साहित्यमें ऐसा ही स्वर्गधाम है। आर्य कवियोंने सारे देवादर्शोंको मूर्तिमान कर दिखलाया है। ये देवता हैं, इसका अर्थ यही है कि मानवोंकी दृष्टिमें ये देवादर्श जीवित मूर्तिसे सदा विराजते रहते हैं। जिन्होंने उन देवादर्शोंको भुला दिया है उनकी देवोपासना नहीं होती, उनकी

देवपूजा धर्मके मृत शरीरकी पूजा है। आदर्श खो देनेसे हम देवताओंके प्राणशून्य मृत देह देखते हैं। जो देवताओंकी प्रतिमाओंमें प्राणप्रतिष्ठित देवशक्ति देखते हैं, वे ही देवादर्श भी देखते हैं। जिस मन्त्रसे देवप्रतिमाकी प्राणप्रतिष्ठा होती है उस मन्त्रसे देवादर्श जीवित हो उठता है। प्राणप्रतिष्ठा क्या है? ध्यानमें देवताकी जीवित शक्तिमयी मूर्तिको अनुभव करना है। इसी जीवित मूर्तिको हृदयमें धारण कर हिन्दू देवोपासना करते हैं।

देवचरित्र

प्राणप्रतिष्ठा करके आर्योपासक उस देवप्रतिमामें अनन्त देवको देखता है। सभी देवता अनन्त देवकी अनन्त विभूतिके परिचायक होकर उपासकोंके हृदयमें उदित होते हैं। आर्य कवियोंने इसी देवमूर्तिके ऐश्वर्यसे आर्य साहित्यको परिपूर्ण कर रक्खा है। देवप्रेम, देवशासन, देवबल और देवविभूति असख्य रूपसे आर्य साहित्यमें देदीप्यमान होती है। सभी मूर्तियाँ उस सगुण ईश्वरकी मूर्तियाँ हैं। प्रेममूर्ति कभी प्रचण्ड रूप धारण कर अधर्मका दण्डविधान करती है, कभी अत्यन्त मोहिनी मूर्तिसे श्यामसुन्दरके रूपमें गोपियों और भक्तों-की प्रेमपिपासा परितृप्त करती है और कभी वह अन्नपूर्णाके रूपमें पुरुषरूपी विश्वात्माको अन्न और प्रेम वितरण करती है। ये सब देवता अनन्त देवकी विभूतिके अंशावतार हैं। अनन्तदेव पूर्ण विभूतिसे राम और कृष्णके रूपमें आर्य साहित्यमें विराजते हैं। आर्य साहित्यको छोड़कर किस जातिके काव्यके कार्यक्षेत्रमें भग-वान अवतीर्ण हुए हैं? यूरोपके किस काव्यमें राम और